व्याख्यान सार संग्रह पुस्तक माला का २१ वाँ पुष्प,

श्री मज्जवाहिराचार्य के—

श्री भगवती सूत्र पर व्याख्यान

तृतीय भाग



सम्पादक—

श्री जैन हितेच्छु श्रावक मंडल रतलाम की तरफ से

पं० शोभाचन्द्रजी भारिल्ल न्यायतीर्थ, ब्यावर,



द्रव्य सहायक—

श्रीमान् सेठ छगनलालजी साहब मुहता

ब्यावर वाला (निलगिरी)



प्रकाशक—

मंत्री श्रीसाधुमार्गी जैन—

पूज्य श्री हुक्मांचन्दजी महाराज की सम्प्रदाय का

हितेच्छु श्रावक मंडल, रतलाम



वीराब्द २४७३
विक्रमाब्द २००४
ई० सन् १९४७

पौना—मूल्य
१।।)

प्रथम
संस्करण
१०००

प्राप्तिस्थान—

श्री जैन हितेच्छु श्रावक मण्डल
रतलाम।

श्री जैन जवाहर मित्र मण्डल
मेवाड़ी बाजार, ब्यावर।

श्री सोहनलाल जैन रजोहरण पात्र
भण्डार, अम्बाला (पंजाब)

श्री सेठिया जैन पारमार्थिक संस्था
बीकानेर (मारवाड़)

श्री जैन जवाहर मण्डल, रायपुर
(सी० पी०)।



प्रकाशक—

श्रीसाधुमार्गी जैन पूज्य श्रीहुक्मीचन्दजी महाराज
सम्प्रदाय का हितेच्छु श्रावक मण्डल, रतलाम.



मुद्रक—
[illegible] जैन "[illegible]",
[illegible] प्रेस, [illegible]



किञ्चिद् वक्तव्य



श्री साधुमार्गी जैन समाज के सुप्रसिद्ध जैनाचार्य स्वर्गीय पूज्य श्री जवाहिरलालजी महाराज सा. सफल व्याख्या कार हुए हैं। पूज्य श्री ने अपने जीवन काल में अनेक जैन सिद्धान्तों की विशद व्याख्या की है। उसमें से कुछ के व्याख्यान ही मंडल की ओर से लिपिवद्ध किये गये हैं।

लिपिवद्ध व्याख्यानों में से श्रीमद्भगवती सूत्र के प्रथम शतक के व्याख्यानों का प्रकाशन चल रहा है। प्रथम शतक के दो उद्देशक के व्याख्यान तो दूसरे भाग में छपकर वाचकों की सेवामें पहुंच चुके हैं। यह तीसरा भाग भी आपकी सेवामें उपस्थित है। इस में तीसरे उद्देशक से छट्ठे उद्देशक तक के विस्तृत व्याख्यान हैं। शेष—उद्देशक के प्रवचन चतुर्थ और पंचम भाग में आप की सेवामें शीघ्र ही उपस्थित करने की चेष्टा की जावेगी।

इस विषय की विस्तृत भूमिका प्रथम एवं द्वितीय भाग में दीगई है अतः बार २ दुहराने की आवश्यकता नहीं है।

इस साहित्य के सम्पादन एवं प्रकाशन का कार्य तो श्रीमान् सेठ इन्द्रचन्दजी सा. गेलड़ा की उदारता एवं श्रीमान् सेठ ताराचन्दजी साहब गेलड़ा की प्रेरणा से हुवा है। जिस समय इसके खर्च का अन्दाज लगाया गया था उस समय यह बात कल्पना में ही नहीं थी कि भविष्य में खर्च इतना अधिक बैठेगा इसलिये जितना आन्दाजा बताया गया था उतनी रकम

सेठ सा. ने भेज दी परन्तु यह रकम तो दो भागों में ही पूरी होगई। इसलिये साहित्य कम कीमत में मिल सके इस भावना से अन्य श्री मन्तों से प्रेरणा करनी पड़ी। प्रसन्नता की बात है कि श्रीमान् सेठ छगनलालजी साहब मूथा निलगीरी वालों ने तीसरे भाग के प्रकाशन खर्च में रु ५००) पाँचसौ अपनी तरफ से देने की उदारता की है। एतदर्थ हम श्रीमान् सेठ छगनलालजी साहब मूथा एवं इस कार्य के आद्य प्रेरक श्रीमान् सेठ इन्दरचन्दजी एवं सेठ ताराचन्दजी साहब गेलड़ा का भी आभार मानते हैं।

हमारी सदा ही यह भावना रहती है कि स्वर्गीय पूज्य श्री के प्रवचनों का साहित्य सिर्फ नाम मात्र की कम कीमत में जनता के हाथ में पहुँचे। परन्तु छपाई आदि खर्च इतना बढ़ गया है कि मजबूरन हमें कुछ अधिक मूल्य रखना पड़ा है।

फिर भी क्राउन सोलहपेजी २६ फार्म की चारसौ से अधिक पृष्ठ की पुस्तक का पौणा मूल्य रु. १॥) जनता को भारी नहीं पड़ेगा ऐसा पूर्ण विश्वास है। इत्यलम्।

चांदनीचौक
रतलाम
आश्विन
शुक्ल १ सं०
२००४

भवदीय

सुजानमल तलेरा
मंत्री

हीरालाल नांदेचा
प्रेसीडेन्ट

श्री सा. जैन पू. श्री हु० हितेच्छु श्रावक मंडल,
रतलाम

श्रीमान् सेठ छगनमलजी साहेब मूथा—

मालिक फर्म-सेठ रिखबदासजी फतेहमलजी निलगिरी

का

संक्षिप्त परिचय

आप मरुधरान्तर्गत रासगांव में श्रीमान् बालचन्दजी मूथा के लघुपुत्र हैं। आपके पूज्य पिताजी का आपकी लघुवय में ही देहान्त होगया था, तथा-घर की स्थिति भी साधारण ही थी। इस कारण आपकी शिक्षा का समुचित प्रबन्ध न होसका। आप को बचपन में ही आपके ज्येष्ठ भ्राता-श्री चुन्निलालजी के साथ दिसावर जानापड़ा। प्रथम खानदेश में फिर बेंगलोर और पश्चात् निलगिरी में आकर व्यवसाय करने लगे। यहाँ आपको लाभान्तराय के क्षयोपशम से लक्ष्मी की प्राप्ति अच्छी हुई। साथही शुभनिष्ठा और नीति पूर्वक व्यवसाय करने से-आपको यश भी मिला। आप निलगिरी में ख्याति प्राप्त व्यापारी हैं।

आप धर्म में दृढ श्रद्धावान एवं चुस्त धर्म प्रेमी हैं। श्रीमज्जैनाचार्य पूज्य श्री जवाहिरलालजी महाराज साहब की सम्प्रदाय के परम भक्त हैं। दो वर्ष पहले वर्तमान पूज्य श्री गणेशीलालजी महाराज सा. का ब्यावर में चातुर्मास था तब-आपने बहुत सेवा बजाई है। संघ सेवामें भी आपने अच्छा सहयोग दिया। इस मंडल के भी आप प्रथम श्रेणि के सभ्य हैं।

श्री जवाहिरस्मारक फंड में रुपये एक हजार एक प्रदान किये हैं
तथा सत्यमूर्ति हरिचन्द्र तारा के चतुर्थ संस्करण के प्रकाशन
आधा खर्च जो रुपये पांचसौ से अधिक दिया। इसी तरह
भगवतीसूत्र के प्रकाशन खर्च में भी रु. ५८०) पांचसौ अ
भेजे हैं। इसलिये इस पुस्तक का खर्च रुपये दो हजार करीब
से प्रत्येक पुस्तक का खर्च रुपये २) दो होते हैं किन्तु सेठजी
उदारता से इसपुस्तक का पौणा मूल्य रु. १॥) ही रक्खा
है। धर्म व्याख्या का भी अंग्रेजी में अनुवाद होकर वह भ
साहब के तरफ से प्रकाशित की जाने का सुनाथा। इस
सेठ साहब की ज्ञान प्रचार के प्रति विशिष्ट रुचि देख
आनन्द होता है।

भवदीय—
मंत्री
श्री जैन हितेच्छु
२।१८

श्रीभगवतीसूत्रम्

(पञ्चमाङ्गम्)

तृतीय भाग

प्रथम शतकः- तृतीय उद्देशक



विषय-प्रवेश

दूसरे उद्देशक के अन्त में असंज्ञी जीव के आयुष्य का विचार किया गया है। आयु, मोह के दोष से बँधता है; जब आयु का बंध होता है तब आठों ही कर्मों का बंध होता है। अतएव आयुबंध के अनन्तर कांक्षा-मोहनीय कर्म का विचार किया जाता है।

प्रथम शतक के प्रारंभ में उद्देशों संबंधी जो संग्रहगाथा कही गई थी, उसमें तीसरे उद्देशक के लिए 'कंखपओस' नाम दिया गया है, तदनुसार भी कांक्षामोहनीय कर्म का विचार करना आवश्यक है।

मूल पाठ—

प्रश्न—जीवाणं भंते! कंखामोहणिज्जे कम्मे कडे ?

उत्तर—हंता, कडे।

प्रश्न—से भंते ! किं देसेणं देसे कडे, देसेणं सव्वे कडे, सव्वेणं देसे कडे, सव्वेणं सव्वे कडे ?

उत्तर—गोयमा ! नो देसेणं देसे कडे, नो देसेणं सव्वे कडे, नो सव्वेणं देसे कडे, सव्वेणं सव्वे कडे।

प्रश्न—नेरइयाणं भंते ! कंखामोहणिज्जे कम्मे कडे ?

उत्तर —हंता, कडे। जाव-सव्वेणं सव्वे कडे; एवं जाव वेमाणियाणं दंडओ भाणिअव्वो।

प्रश्न—जीवाणं भंते ! कंखामोहणिज्जं कम्मं करिंसु ?

उत्तर—हंता, करिंसु।

प्रश्न—तं भंते ! किं देसेणं देसं करिंसु ?

उत्तर—एएणं अभिलावेणं दंडओ भाणिअव्वो, जाव वेमाणिआणं। एवं करेंति, एत्थ वि दंडओ, जाव-वेमाणिआणं। एवं करिस्संति, एत्थ वि दंडओ जाव वेमाणिआणं। एवं चिए, चिणिंसु, चिणंति, चिणिस्संति; उवचिए, उवचिणिंसु, उवचिणंति, उवचिणिस्संति, उदीरेंसु, उदीरेंति, उदीरिस्संति; वेदेंसु, वेदेंति, वेदिस्संति; निज्जरेंसु, निज्जरेंति, निज्जरिस्संति। गाहाः—

कड-चिया उवचिया उदीरिया वेइया य निज्जिन्ना।
आदितिए चउभेया तियभेया पच्छिमा तिन्नि॥

संस्कृत छाया—

प्रश्न—जीवानां भगवन् ! काङ्क्षामोहनीयं कर्म कृतम् ?

उत्तर—हन्त, कृतम्।

प्रश्न—तद् भगवन् ! किं देशेन देशं कृतम्, देशेन स
कृतम्, सर्वेण देशं कृतम्, सर्वेण सर्वम् कृतम् ?

उत्तर—गौतम ! नो देशेन देशं कृतम्, नो देशेन सर्वम्
कृतम्, नो सर्वेण देशं कृतम्, सर्वेण सर्वम् कृतम् ।

प्रश्न—नैरयिकाणां भगवन् ! काङ्क्षामोहनीयं कर्म
कृतम् ?

उत्तर—हन्त कृतम्, यावत्-सर्वेण सर्वम् कृतम् । एवं यावद्
वैमानिकानां दण्डकोभाणितव्यः ।

प्रश्न—जीवैः भगवन् ! काङ्क्षामोहनीयं कर्म कृतम् ?

उत्तर—हन्त, कृतम् ।

प्रश्न—तद् भगवन् ! किं देशेन देशं कृतम्० ?

उत्तर—एतेनाभिलापेन दण्डको भणितव्यः, यावत्-वैमानिकानाम् । एवं कुर्वन्ति अत्रापि दण्डको यावत् -वैमानिकानाम् । एवं 'करिष्यन्ति' अत्रापि दण्डको यावत-वैमानिकानाम् । एवं चितम्, अचैषुः चिन्वन्ति चेष्यन्ति, उपचितम्, उपाचैषुः, उपचिन्वन्ति, उपचेष्यन्ति; उदीरितवन्तः, उदीरयन्ति, उदीरयिष्यन्ति; वेदितवन्तः वेदयन्ति, वेदयिष्यन्ति; निर्जरितवन्तः, निर्जरयन्ति,

निर्जरयिष्यन्ति । गाथाः—

कृत-चिता उपचिता उदीरिता वेदिताश्च निर्जीर्णाः ।
आदित्रिके चतुर्भेदाः, त्रिभेदाः पश्चिमास्त्रयः ॥

शब्दार्थ—

प्रश्न—भगवन् ! क्या जीवों का कांक्षामोहनीय कर्म कृत है ?

उत्तर—हां, गौतम ! कृत-क्रियानिष्पाद्य-है ।

प्रश्न—भगवन् ! क्या वह देश से देशकृत है, देश से सर्वकृत है, सर्व से देशकृत है या सर्व से सर्वकृत है ?

उत्तर—गौतम ! वह देश से देशकृत नहीं है, देश से सर्वकृत नहीं है, सर्व से देशकृत नहीं है, सर्व से सर्वकृत है ।

प्रश्न—भगवन् ! नैरयिकों का कांक्षामोहनीय कर्म कृत है ?

उत्तर--गौतम हाँ, कृत है । यावत् सर्व से सर्वकृत है । इसी प्रकार यावत् वैमानिकों तक दंडक कहना चाहिये ।

प्रश्न—भगवन् ! जीवों ने कांक्षामोहनीय कर्म उपार्जन किया है ?

उत्तर— गौतम ! हाँ, किया है ।

प्रश्न—भगवान् ! क्या देश से देशकृत है ? (इत्यादि पूर्वोक्त कहना चाहिए ।)

उत्तर—गौतम ! सर्व से सर्व किया है, इस प्रकार यावत् वैमानिकों तक दंडक कहना चाहिए । इसी तरह 'करते' और 'करेंगे' इन दोनों का कथन भी यावत् वैमानिकों तक करना चाहिये । तथा इसी प्रकार चय, चय किया, चय करते हैं, चय करेंगे, उपचय, उपचय किया, उपचय करते हैं, उपचय करेंगे, उदीरणा की, उदीरणा करते हैं, उदीरणा करेंगे, वेदन किया, वेदन करते हैं, वेदन करेंगे, निर्जीर्ण किया, निर्जीर्ण करते हैं, निर्जीर्ण करेंगे, इन सबका कथन करना चाहिए । गाथाः—

कृत, चित, उपचित, उदीरित, वेदित और निर्जरित, इतने अभिलाप यहाँ कहने हैं । इनमें से कृत, चित और उपचित में एक-एक के चार भेद कहते हैं, अर्थात् सामान्य क्रिया, भूतकाल की, वर्त्तमान काल की और भविष्यकाल की क्रिया, और पिछले तीन पदों में सिर्फ तीन काल की क्रिया कहनी है ।

व्याख्यान

प्रस्तुत कथन को समझने से पहले यह देख लेना आवश्यक है कि कांक्षा मोहनीय कर्म का लक्षण क्या है ? जो कर्म मुग्ध-मूढ़ बनाता है, जिसके प्रभाव से आत्मा गफलत में पड़ती है उसे मोहनीय कर्म कहते हैं। मोहनीय कर्म के दो भेद हैं—चारित्र मोहनीय और दर्शन मोहनीय। यहाँ चारित्र मोहनीय कर्म के विषय में प्रश्न नहीं है, अतएव कांक्षामोहनीय शब्द का प्रयोग किया गया है।

कांक्षा का अर्थ यहां "अन्य दर्शनों की इच्छा करना" है। जैसे कोई सोचता है—'जैन धर्म वैराग्य की ओर प्रेरित करता है और संसार के आमोद-प्रमोदों के प्रति अरुचि उत्पन्न करता है। चार्वाक (नास्तिक) मत कितना सुन्दर है 'जो ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत् (कर्ज काढ़ो और खूब घी पीओ) का उपदेश देता है सांसारिक सुख-भोग का समर्थन करता है। उसमें पर-लोक का किंचित् भी भय नहीं है, क्योंकि वह कहता है—भस्मी भूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः।' अर्थात् यह जला हुआ शरीर फिर दूसरे भव में नहीं आता और आत्मा का अस्तित्व ही नहीं है। ऐसी अवस्था में जैन धर्म को त्याग कर चार्वाक मत को ही ग्रहण करना चाहिए। इस प्रकार के विचार आना कांक्षा मोहनीय कर्म कहलाता है। कांक्षा मोहनीय के अन्तर्गत उपलक्षण से और बातें भी समझनी चाहिए। जैसे संशय मोहनीय, परपाखंड प्रशंसा मोहनीय आदि आदि।

कांक्षा मोहनीय का सरल अर्थ है—मिथ्यात्व मोहनीय। इसी के विषय में गौतम स्वामी ने प्रश्न किया है—भगवन्! क्या कांक्षा मोहनीय कर्म जीव द्वारा किया हुआ है? इस प्रश्न का उत्तर भगवान ने 'हां' में दिया है।

क्रियते—इति कर्म। अर्थात् कर्त्ता द्वारा जो किया जाय वह कर्म कहलाता है। जो कर्त्ता द्वारा नहीं किया जाता वह कर्म नहीं हो सकता। अगर बिना किये ही कर्म होने लगे तो जगत की सम्पूर्ण अवस्था उथल-पुथल हो जाय। जिसने ऋण नहीं लिया उसे चुकाना पड़े और जिसने अपराध नहीं किया उसे दंड भोगना पड़े तो बड़ी गड़बड़ी मच जाय। इसी से शास्त्र कहता है कि किये बिना कर्म नहीं हो सकता। कांक्षा मोहनीय जीव द्वारा किया जाता है, इसीलिए यह कर्म कहलाता है।

कई दार्शनिकों ने बिना किये ही कर्मों का लग जाना स्वीकार किया है। गौतम स्वामी ने भगवान से प्रश्न करके यह स्पष्ट कर दिया है कि बिना किया कर्म आत्मा नहीं भोगता। जीव द्वारा करने से ही कर्म होता है।

इतना स्पष्ट होने के अनन्तर गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवन्! जीव ने कांक्षा मोहनीय कर्म किया है तो देश से देश को किया है, देश से सर्व को किया है, सर्व से देश को किया है या सर्व से सर्व को किया है?

... चार प्रकार से होता है। उदाहरणार्थ—एक व्यक्ति अपने शरीर के एक देश—हाथ से कपड़े का एक भाग ग्रहण करता है। हाथ शरीर का देश है। वस्त्र के देश से वस्त्र का एक देश (भाग) ग्रहण करता है। यह एक देश से एक देश का ग्रहण करना कहलाया। इसी प्रकार हाथ से समस्त कपड़े को ग्रहण किया तो यह देश से सर्व का ग्रहण करना कहलाया। यदि समस्त शरीर से वस्त्र के एक भाग को ग्रहण किया तो सर्व से देश का ग्रहण करना कहलाया और सारे शरीर से सारे वस्त्र का ग्रहण करना सर्व से सर्व का ग्रहण करना है। इसी प्रकार अन्य उदाहरण भी समझे जा सकते हैं।

प्रकरण में देश का है—आत्मा का एक देश और ग्रहण किये जाने वाले कर्मों का एक देश। अगर आत्मा के एक देश से कर्म का एक देश किया जाय तो देश से देश की क्रिया हो। अगर आत्मा के एक देश से सर्व कर्म किया तो देश से सर्व की क्रिया कहलाई। सम्पूर्ण आत्मा से कर्म का एक देश किया तो सर्व से देश की क्रिया हुई। और सम्पूर्ण आत्मा से सम्पूर्ण कर्म किया तो सर्व से सर्व की क्रिया कहलाई।

गौतम स्वामी ने इसी अभिप्राय से प्रश्न किया है। भगवान ने उत्तर में फरमाया है—हे गौतम! जीवों द्वारा कृत कर्म सर्व से सर्वकृत है, अर्थात् समस्त आत्मप्रदेशों से समस्त कर्म किया हुआ है। पूर्वोक्त चौभंगी में से यही चौथा भंग ग्रहण किया गया है।

[illegible]

[illegible] जीव का अवगाहन है [illegible] आत्मा के प्रदेश विद्यमान हैं, [illegible] वाले कर्म-पुद्गल एक-क्षेत्रावगाढ़ [illegible] हैं। ऐसे ही कर्म-पुद्गलों को जीव समस्त प्रदेशों से [illegible] ग्रहण करता है। जिस हेतु से आत्मा कर्म करता है, वह हेतु सभी कर्म प्रदेशों का है। इस प्रकार समस्त आत्म प्रदेशों द्वारा, एक समय में बंधने योग्य समस्त कर्म पुद्गलों को बाँधने के कारण कांक्षामोहनीय सर्व से सर्वकृत है।

कई ग्रंथकारों का मत है कि जीव के आठ प्रदेश खाली रहते हैं—वहाँ कर्म का बंध नहीं होता, लेकिन शास्त्र में ऐसा कथन उपलब्ध नहीं है।

यह समुच्चय का प्रश्नोत्तर था, अब दंडक-विशेष को आश्रित करके प्रश्न किया जाता है। गौतम स्वामी कहते हैं—भगवन्! नैरयिक कांक्षामोहनीय कर्म क्या उनका किया हुआ है?

भगवान—हाँ।

गौतम—यह भी सर्व से सर्वकृत है या दूसरी तरह से ?

भगवान्—यह भी सर्व से सर्वकृत है।

जैसे नैरयिक के लिए प्रश्नोत्तर हैं वैसे ही चौबीसों दंडकों के लिए प्रश्नोत्तर समझने चाहिए।

कर्म, क्रिया से निष्पन्न होता है और क्रिया तीनों कालों से संबंध रखती है। अतीत काल में कर्म-निष्पादन की क्रिया की थी, वर्त्तमान में की जा रही है—और भविष्य में भी की जायगी। इस त्रिकाल संबंधी क्रिया से कर्म लगते हैं। क्रिया पहले होती है, कर्म बाद में लगते हैं। कर्म वर्गणा के पुद्गलों का जब आत्मा के साथ संबंध हो जाता है तभी उन पुद्गलों को कर्म संज्ञा होती है। यह संज्ञा तबतक बनी रहती है जब तक कि वे आत्मा से झड़ नहीं जाते। यह कर्म, क्रिया से ही होते हैं, अतः क्रिया के द्वारा कर्म संबंधी प्रश्न किया गया है।

गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवन्! जीवों ने कांक्षामोहनीय कर्म किया है ? इसके उत्तर में भगवान ने फर्माया—हाँ गौतम, किया। इसके आगे देश से देश किया यावत् सर्व से सर्व किया ? यह प्रश्न है और उसका उत्तर पहले की ही तरह सर्व से सर्व किया, यह समझना चाहिए। इसी प्रकार वर्त्तमान काल और भविष्य काल संबंधी प्रश्नोत्तर भी हैं। जैसे—'भगवन्! जीव कांक्षामोहनीय कर्म करते हैं ? उत्तर–'हाँ गौतम, करते हैं।'

प्रश्न—'देश से देश करते हैं यावत् सर्व से सर्व करते हैं?'
उत्तर—'गौतम! सर्व से सर्व करते हैं।' इत्यादि।

इस समुच्चय-कथन की भाँति चौवीसों दण्डकों को लेकर, तीन काल लगाकर प्रश्नोत्तर स्वयं ही समझ लेने चाहिए।

यहाँ जो प्रश्नोत्तर 'कृत' के विषय में बतलाये गये हैं, वही प्रश्नोत्तर चित, उपचित, उदीरित, वेदित, और निर्जरित के विषय में भी समझने चाहिए। अर्थात् पूर्वोल्लिखित प्रश्नोत्तरों में जहाँ 'कृत' शब्द आया है, वहाँ चित, उपचित आदि शब्दों का प्रयोग करके प्रश्नोत्तरों की संघटना कर लेनी चाहिए।

यहा कृत, चित, उपचित, उदीरित, वेदित, और निर्जरित के विषय में एक संग्रहगाथा कही है। उसमें यह बतलाया गया है कि कृत, चित और उपचित के चार-चार भेद करने चाहिए —एक सामान्य क्रिया और तीन काल की तीन क्रियाएँ। उदीरित, वेदित और निर्जरित में केवल तीन काल की ही क्रिया कहनी चाहिए। इन पदों के साथ सामान्य क्रिया का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

चित आदि का स्वरूप इस प्रकार है:—जो कर्म पहले उपार्जन किये हुए हैं, उनमें प्रदेश और अनुभाग की वृद्धि करना अर्थात् संक्लेशमय परिणामों से उन्हें बढ़ाना चय (चित) कहलाता है। यथा—किसी आदमी ने भोजन किया। भोजन करने में उसे सामान्य क्रिया लगी। फिर वह रागभाव से प्रेरित

होकर भोजन की सराहना करने लगा। सराहने से कर्म जैसे-जैसे आते हैं, वैसे-वैसे कर्मों की वृद्धि होती जाती है। इसे चय करना कहते हैं। बार-बार ऐसा करना-चय करना, उपचय करना कहलाता है।

अन्य आचार्यों के अभिप्राय से कर्म-पुद्गलों का ग्रहण करना मात्र चय कहलाता है और अबाधा काल को छोड़ कर दूसरे काल में, ग्रहण किये हुए कर्म पुद्गलों को वेदने के लिए निषेचन करना उपचय कहलाता है।

कर्मबंध होने के पश्चात् और उदय से पहले का समय, जब कि कर्म सत्ता में पड़ा रहता है, फल नहीं देता, अबाधा काल कहलाता है। कर्म की स्थिति जितने कोड़ाकोड़ी सागर की होती है उतने ही हजार वर्ष का अबाधा काल होता है।

निषेचन का अर्थ है—वर्गीकरण। जीव पहली स्थिति में बहुत-से कर्मदलिकों का निषेचन करता है। उसके पश्चात् दूसरी स्थिति में बहुत कम कर्मदलिकों का निषेचन करता है। इस प्रकार यावत् उत्कृष्ट स्थिति में बहुत कम का निषेचन करता है। कहा भी है:—

मोत्तूण सगमबाहं पढमाइ ठिईइ बहुयरं दव्वं।
सेसं विसेसहीणं जाव उक्कोसं ति

अर्थात्---अपना अबाधा काल छोड़कर प्रथम स्थिति में बहुतर द्रव्य को और इसी प्रकार यावत् उत्कृष्ट स्थिति में बहुत कम द्रव्य (कर्मदलिकों) का निषेचन करता है।

जो कर्म उदय में नहीं आये हैं उन्हें एक प्रकार के विशिष्ट करण द्वारा उदय में ले आना उदीरणा है और उदय में आये हुए कर्मों का फल भोगना वेदना कहलाता है। जीव-प्रदेशों से कर्म पृथक् करना निर्जरा है। स्थिति के परिपक्व होने पर कर्म, आत्मप्रदेश से पृथक् होते हैं, वह निर्जरा है और स्थिति पकने से पहले ही कर्मों को पृथक् करना महानिर्जरा है।

संग्रहगाथा में बतलाया गया है कि पहले के तीन पदों में चार-चार भेद और पीछे के तीन पदों में तीन-तीन भेद करने चाहिए। सो इसका क्या आशय है? इस भेद का क्या कारण है?

इसका उत्तर यह है कि कृत, चित और उपचित कर्म बहुत समय तक-सत्तर कोड़ाकोड़ी सागरोपम तक-ठहरते हैं। अतः इन तीन पदों में तीन काल बतलाने के साथ ही साथ सत्ता रूप काल बताने के लिए सामान्य क्रिया का भी प्रयोग किया जाता है। उदीरणा आदि चिरकाल पर्यन्त नहीं रहते अतएव उनमें सामान्य काल नहीं बतलाया गया है-सिर्फ तीन काल ही बतलाये गये हैं। इसी कारण पहले के तीन पदों के चार-चार और अंतिम तीन पदों के तीन-तीन भेद किये गये हैं।

मूलपाठ—

प्रश्न—जीवाणं भंते ! कंखामोहणिज्जं कम्मं वेदेंति ?

उत्तर—हंता, गोयमा ! वेदेंति।

प्रश्न—कहणं भंते ! जीवा कंखामोहणिज्जं कम्मं वेदेंति ?

उत्तर—गोयमा ? तेहि तेहिं कारणेहिं संकिया, कंखिया, वितिगिंछिया, भेद संमावन्ना, कलुससमावन्नाः एवं खलु जीवा कंखामोहणिज्जं कम्मं वेदेंति।

प्रश्न—से णूणं भंते ! तमेव सच्चं णीसंकं जं जिणेहिं पवेइयं ?

उत्तर—हंता, गोयमा ! तमेव सच्चं णीसंकं जं जिणेहिं पवइयं।

शब्दार्थ—

प्रश्न—भगवन् ! जीव क्या कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन करते हैं ।

उत्तर—हाँ गौतम, वेदन करते हैं ।

प्रश्न—भगवन् ! जीव कांक्षामोहनीय कर्म को किस प्रकार वेदते हैं ?

उत्तर—गौतम ! अमुक अमुक कारणों से शंकायुक्त, कांक्षायुक्त, विचिकित्सायुक्त, भेदसमापन्न और कलुषसमापन्न होकर, इस प्रकार जीव कांक्षामोहनीय कर्म को वेदते हैं ।

प्रश्न—भगवन् ! क्या वही सत्य और निश्शंक है, जो जिनों ने निरूपण किया है ?

उत्तर—हाँ, गौतम ! वही सत्य और निश्शंक है, जो जिनों ने निरूपण किया है ।

प्रश्न—भगवन् ! (वही सत्य और निश्शंक है जो जिनों ने निरूपण किया है) इस प्रकार मन में निश्चय करता हुआ, इसी प्रकार आचरण करता हुआ, रहता हुआ, संवर करता हुआ जीव आज्ञा का आराधक

च्छा करना कांक्षा है। यह भी कांक्षा मोहनीय के वेदन का कारण है।

फल के विषय में संशय होना विचिकित्सा है। जैसे—मैं इतनी तपस्या करता हूँ, ब्रह्मचर्य आदि पालता हूँ, लेकिन अभी तक तो कुछ फल मिला नहीं है, कौन जाने आगे मिलेगा या नहीं!

बुद्धि में द्वैधीभाव उत्पन्न हो जाना भेदसमापन्नता है। जैसे—जिन शासन यह है या वह है? इस प्रकार जिन शासन के विषय में जिसकी बुद्धि भेद को प्राप्त हो रही है, वह भेद समापन्न कहलाता है। अथवा अनध्यवसाय वाले को भेद समापन्न कहते हैं। अनिश्चित ज्ञान अनध्यवसाय कहलाता है। अथवा पहले शंका अथवा कांक्षा उत्पन्न हुई, इसलिए उसके कारण बुद्धि में विभ्रम पैदा हो गया—अतएव भेद समापन्न का अर्थ है—भ्रान्तबुद्धि वाला।

विपरीत बुद्धि वाला कलुषसमापन्न कहलाता है। जो वस्तु जिन भगवान ने जैसी प्रकट की है, उसे उसी रूप में निश्चय न करके विपरीत रूप में समझना कलुषसमापन्नता है।

भगवान फर्माते हैं—हे गौतम! इन कारणों से जीव निश्चय ही कांक्षा मोहनीय कर्म का वेदन करते हैं।

कांक्षा मोहनीय कर्म वेदने के कारण स्पष्ट होने के पश्चात् गौतम स्वामी उसे हटाने का कारण पूछते हैं। कभी-कभी

[illegible]

[illegible] अर्थात् [illegible]

[illegible] परहित [illegible] [illegible], वह

[illegible] मन [illegible] कुछ

[illegible] यथार्थ [illegible] आत्मा

[illegible] [illegible] की

[illegible] में [illegible]

[illegible] [illegible] पर आ

[illegible]

गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने फर्माया—
हाँ गौतम ! वही बात सत्य और संशयरहित है जो 'जिन' की
कही हुई है।

इसके पश्चात् गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवन् ! जिन
पूर्वक ऐसी श्रद्धा करने से कि—'जिन' की कही हुई बात स
और संशयरहित है, तथा यही बात हृदय में स्थिर करने
इसी प्रकार की क्रिया करने से, किसी के पूछने पर ऐसा
कहने से, अन्यथा न कहने से, मन में भी जिन भगवान
के वचनों को ही सत्य समझने से और अन्यथा न समझने
तथा जिन वचन के अनुसार प्राणातिपात, असत्य,
आदि से मन को हटा लेने से क्या ज्ञान, दर्शन और चरि
सेवन रूप जिन की आज्ञा का आराधक होता है ? क्य
जिन भगवान की आज्ञा का पालन करने वाला है ?

भगवन् ने उत्तर दिया—हाँ गौतम ! जो जीव ऐसा
है वह जिन की आज्ञा का आराधक है।

इस जगह इस बात पर विशेष भार दिया गया
धर्म का पालन हृदय से करो। कोरे बुद्धिवाद से
विकास नहीं होता। अतएव किसी के वचन मानने
वक्ता की परीक्षा करनी चाहिए। सत्य वक्ता वही
है जिसने राग-द्वेष को जीत लिया हो। इसलिए

वही वीतराग का कहा हुआ शास्त्र है। जिन शास्त्रों में ...तम भावनाओं के प्रति प्रेरणा है, उन्हें निस्संशय मान लेना ...हिए। वही जिन-वचन हैं। इस पंचम काल के पुरुषों के ...र जिन वचन ही एक मात्र आधार हैं। उनमें संशय करना ...मा का घात करना है। जिन भगवान के वचनों में संदेह ...ने का कोई कारण भी नहीं है। क्योंकि राग-द्वेष और ...न ही मिथ्याभाषण के कारण हैं और जहाँ इन दोषों का ...था अभाव है, वहाँ कोई असत्य भाषण कर ही कैसे ...ता है?

...धर्म में, बुद्धिवाद को अलग रख देने की आवश्यकता है। ...गम्य विषय ही बुद्धि द्वारा विचारणीय हो सकते हैं। जो ...य सूक्ष्म-अतिसूक्ष्म हैं और जो चिरकालीन तपस्या-जन्य ...भूति के द्वारा ही गम्य हो सकते हैं, उनमें बुद्धि भिड़ाने ...रिणाम विपरीत ही हो सकता है।

...सारांश यह है कि जिसमें राग-द्वेष नहीं है वह चाहे ...डाल कुल में ही क्यों न जन्मा हो, जैसे हरिकेश मुनि—तब ...सकी बात मान्य है। इसके विपरीत जो रागी और द्वेषी ...ह भले ही राजकुल में जन्मा हो, उसका वचन प्रामाणिक ...। यही जैनधर्म का रहस्य है। इसे ठीक-ठीक समझ लेने ...र्म विषयक कोई झगड़ा नहीं रहता।

हाँ गौतम! वही ... कही हुई है।

इसके पश्चात् गौ... पूर्वक ऐसी श्रद्धा करने ... और संशयरहित है, ... इसी प्रकार की क्रिया ... करने से, अन्यथा न ... वचनों को ही सत्य ... तथा जिन वचन है ... आदि से मन को दृढ़ ... सेवन रूप जिन की आ... जिन भगवान की आज्ञा ...

भगवन् ने उत्तर दिया ... है वह जिन की आज्ञा का ...

इस जगह इस बात ... धर्म का पालन हृदय से ... विकास नहीं होता। ... वक्ता की परीक्षा करनी चाहि... है जिसने राग-द्वेष को जीत ... करने से पहले उपदेशक को ...

गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में भगवान ने फर्माया—गौतम ! वही बात सत्य और संशयरहित है जो 'जिन' की कही हुई है।

इसके पश्चात् गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवन् ! निश्चय क ऐसी श्रद्धा करने से कि–'जिन' की कही हुई बात सत्य र संशयरहित है, तथा यही बात हृदय में स्थिर करने से, सी प्रकार की क्रिया करने से, किसी के पूछने पर ऐसा ही हने से, अन्यथा न कहने से, मन में भी जिन भगवान के चनों को ही सत्य समझने से और अन्यथा न समझने से, था जिन वचन के अनुसार प्राणातिपात, असत्य, चोरी दि से मन को हटा लेने से क्या ज्ञान, दर्शन और चरित्र के लन रूप जिन की आज्ञा का आराधक होता है ? क्या वह जन भगवान की आज्ञा का पालन करने वाला है ?

भगवन् ने उत्तर दिया—हाँ गौतम ! जो जीव ऐसा करता वह जिन की आज्ञा का आराधक है।

इस जगह इस बात पर विशेष भार दिया गया है कि र्म का पालन हृदय से करो। कोरे बुद्धिवाद से आत्मा का कास नहीं होता। अतएव किसी के वचन मानने से पहले क्ता की परीक्षा करनी चाहिए। सत्य वक्ता वही हो सकता जिसने राग-द्वेष को जीत लिया हो। इसलिए उपदेश ग्रहण रने से पहले उपदेशक को इस कसौटी पर कस लेना

चाहिए। [illegible] हो [illegible]
उसके [illegible] में [illegible] नहीं होता। [illegible]
[illegible] ज्ञान की ओर [illegible] हो जाएगी। इस [illegible]
समझ पर चलना चाहिए यह निर्णय करने के लिए आगम
यह बतलाता है कि 'जिन' के वचन सत्य हैं और [illegible]

जिन के वचन क्यों सत्य हैं, इस ग्रंथ में पहले कहा जा चुका है। बात यह है कि मनुष्य का ज्ञान राग-द्वेष कषायों के कारण ही मिथ्या होता है। जितने जितने अंश राग-द्वेष क्षीण होते जाते हैं उतने-उतने अंशों में ज्ञान निर्मलता आती जाती है। जब कषाय पूर्ण रूप से क्षीण जाते हैं तब ज्ञान में पूर्ण निर्मलता आ जाती है और आ का नाश होने पर ज्ञान अनन्त हो जाता है। यहाँ मनुष्यों ऐसी स्थिति है कि इसमें असत्य के लेश की भी संभावना है। अतएव जो वस्तु जैसी है, उसे जिन वैसी ही बतल , वास्तविकता के विपरीत बतलाने का कारण राग-द्वेष अज्ञान है और उन दोषों को जिन दूर कर चुके हैं, या कहिए कि जो इन्हें दूर कर देता है वही जिन कहलाता इस कारण जिन वही बात कहेंगे जो सत्य हो। व्यवहार भी ईमानदार की बात मानी जाती है, बेईमान की नहीं म जाती। यही बात लोकोत्तर नियमों में भी समझ लेनी चा



अस्तित्व और नास्तित्व



प्रश्न—से णूणं भंते ! अत्थित्तं अत्थित्ते
[प]रिणमइ, नत्थित्तं नत्थित्ते परिणमइ ?

उत्तर—हंता, गोयमा ! जाव परिणमइ ।

प्रश्न—जं तं भंते ! अत्थित्तं अत्थित्ते परिण-
[म]इ, नत्थित्तं नत्थित्ते परिणमइ, तं किं पओगसा,
[वी]ससा ?

उत्तर—गोयमा ! पओगसा वि तं, वीससा
[वि] तं ।

प्रश्न—जहा ते भंते ! अत्थित्तं अत्थित्ते परि-
[ण]मइ, तहा ते नत्थित्तं नत्थित्ते परिणमइ, तहा
[ते] अत्थित्तं अत्थित्ते परिणमइ ?

उत्तर—हंता, गोयमा ! जहा मे अ
अत्थित्ते परिणमइ, तहा मे नत्थित्तं नत्थित्ते प
णमइ ? जहा मे नत्थित्तं नत्थित्ते परिणमइ, त
मे अत्थित्तं अत्थित्ते परिणमइ ।

प्रश्न—से णूणं भंते ! अत्थित्तं अत्थि
गमणिज्जं ?

उत्तर—जहा 'परिणमइ' दो आलावगा, त
ते इह गमणिज्जेण वि दो अलावगा भा
अव्वा । जाव-जहा मे अत्थित्तं अत्थित्ते गम
ज्जं ।

प्रश्न—जहा ते भंते ! एत्थं गमणिज्जं त
ते इहं गमणिज्जं, जहा ते इहं गमणिज्जं तहा
एत्थं गमणिज्जं ?

उत्तर—हंता, गोयमा ! जहा मे एत्थं गमणि
जाव-तहा मे एत्थं गमणिज्जं ।

संस्कृत छाया—

प्रश्न—तद् नूनं भगवन् ! अस्तित्वम् अस्तित्वे परिणमति, ...तत्वं नास्तित्वे परिणमति ?

उत्तर—हन्त, गौतम ! यावत् परिणमति ।

प्रश्न—यत् तद् भगवन् ! अस्तित्वम् अस्तित्वे परिणमति, ...स्तित्वं नास्तित्वे परिणमति, तत् किं प्रयोगेण, विस्रसया ?

उत्तर—गौतम ! प्रयोगेणापि तत्, विस्रसयाऽपि तत् ।

प्रश्न—यथा ते भगवन् ! अस्तित्वम् अस्तित्वे परिणमति, तथा ते नास्तित्वं नास्तित्वे परिणमति ? यथा ते नास्तित्वं नास्ति-...त्वे परिणमति, तथा ते अस्तित्वम् अस्तित्वे परिणमति ?

उत्तर—हन्त, गौतम ! यथा मे अस्तित्वमस्तित्वे परिणमति, तथा मे नास्तित्वं नास्तित्वे परिणमति; यथा मे नास्तित्वं नास्तित्वे परिणभति, तथा मे अस्तित्वमस्तित्वे परिणमति ।

प्रश्न—तद् नूनं ! अस्तित्वमस्तित्वे गमनीयम् ?

उत्तर—यथा 'परिणभति' द्वौ आलापकौ, तथा ते इह गमनीयेनापि द्वौ आलापकौ भणितव्यौ । यावत्—यथा मे ऽस्तित्वेमस्तित्वे गमनीयम् ।

प्रश्न [illegible] भगवन्! [illegible]

[illegible]

उत्तर—हन्ता, गौतम! [illegible]

[illegible]

अनुवाद—

प्रश्न—भगवन्! अस्तित्व अस्तित्व में परिण[illegible]
है, नास्तित्व नास्तित्व में परिणत होता है?

उत्तर—गौतम! हाँ, इसी प्रकार यावत्
होता है।

प्रश्न—भगवन्! वह जो अस्तित्व अस्तित्व
णत होता है और नास्तित्व नास्तित्व में परिणत
है, सो वह क्या प्रयोग से—जीव के व्यापार
स्वभाव से परिणत होता है?

उत्तर—गौतम! वह प्रयोग से और स्वभाव
तरह-से परिणत होता है।

प्रश्न—भगवन्! जैसे आपके मत से
अस्तित्व में परिणत होता है। उसी प्रकार
नास्तित्व में परिणत होता है? और जैसे आपके

नास्तित्व नास्तित्व में परिणत होता है, उसी प्रकार अस्तित्व अस्तित्व में परिणत होता है ?

उत्तर—गौतम ! हाँ, जैसे मेरे मत से अस्तित्व अस्तित्व में परिणत होता है उसी प्रकार नास्तित्व नास्तित्व में परिणत होता है। और मेरे मत से जैसे नास्तित्व नास्तित्व में परिणत होता है, उसी प्रकार अस्तित्व अस्तित्व में परिणत होता है।

प्रश्न—भगवन् ! अस्तित्व अस्तित्व में गमनीय है ?

उत्तर—गौतम ! जैसे परिणत होता है, इस पद के आलापक कहे हैं। उसी प्रकार यहाँ 'गमनीय' पद के साथ भी दो आलापक कहने चाहिए। यावत्—जैसे मेरा अस्तित्व अस्तित्व में गमनीय है।

प्रश्न—भगवन् ! जैसे आपके मत में यहाँ (स्वात्मा में) गमनीय है, उसी प्रकार इह (परात्मा में) गमनीय है ? जैसे आपके मत में इह गमनीय है, उसी प्रकार यहाँ गमनीय है ?

उत्तर—हाँ, गौतम ! जैसे मेरे मत में यहाँ गमनीय है, यावत् उसी प्रकार यहाँ गमनीय है।

व्याख्यान

वस्तु का विद्यमान होना अस्तित्व कहलाता है और विद्यमान न होना नास्तित्व कहलाता है। गौतम स्वामी प्रश्न करते हैं कि जो वस्तु है वह अपने अस्तित्व में और जो वस्तु नहीं है वह अपने नास्तित्व में परिणत होती है ?

उंगली का उंगली के रूप में होना, यह अस्तित्व है। उँगली का अस्तित्व कहने मात्र के लिये नहीं है, किंतु उँगली की लम्बाई, चौड़ाई आदि पर्यायें भी वैसी ही हैं। उँगली का स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव रूप में परिणत होना अस्तित्व का अस्तित्व रूप में परिणत होना कहलाता है। जिसका अस्तित्व है वही स्वकीय द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव रूप में परिणत होता है।

तात्पर्य यह है कि उँगली आदि कोई भी वस्तु, जिसका अस्तित्व है वह अपने पर्याय से भिन्न नहीं है, [illegible] पर्याय [illegible] अस्तित्व रूप में ही है। उँगली अस्तित्व है [illegible] वह सीधी हो या टेढ़ी हो, अपने पर्याय— [illegible] परिणत होती है। सीधी होना या टेढ़ी होना [illegible] है। [illegible] उँगली है और [illegible] है। [illegible] अस्तित्व, अस्तित्व रूप में [illegible] है।

जिस वस्तु में अस्तित्व है—जो सत् है, उसका रूपान्तर भले ही हो जाय अर्थात् वह एक रूप से पलट कर दूसरे रूप में भले ही पहुँच जाय, मगर वह रहेगी सद्रूप ही। सत्ता, कभी असत्ता नहीं बन सकती। सत्ता का विनाश होना त्रिकाल में भी संभव नहीं है। उदाहरण के लिए मिट्टी को लीजिए। वह पहले बिखरी हुई और सूखी थी। उसमें पानी डाला गया तब वह गीली हो गई। उसका एक पिंड बन गया। इतना परिवर्तन होने पर भी मिट्टी, मिट्टी ही रही। उसकी सत्ता ज्यों की त्यों अक्षुण्ण है। इसके अनन्तर कुम्हार ने उस मिट्टी के पिंड को चाक पर चढ़ाया और उसका घड़ा बना लिया। तब भी मिट्टी तो कायम ही रही। मिट्टी के एक रूप में उसकी सत्ता अखण्ड है। इस प्रकार अस्तित्व, अस्तित्व रूप में ही परिणत होता है। अर्थात् सत् पदार्थ के जितने भी परिणमन होंगे वह सब सत् स्वरूप ही होंगे। सत्ता त्रिकाल और त्रिलोक में कभी असत्ता नहीं बनेगी।

पदार्थ में अस्तित्व और नास्तित्व, दोनों धर्म विभिन्न अपेक्षाओं से विद्यमान हैं। यद्यपि दोनों धर्म परस्पर विरोधी से प्रतीत होते हैं और साधारणतया ऐसा मालूम होता है कि जहाँ अस्तित्व है वहाँ नास्तित्व कैसे रह सकता है? और जहाँ नास्तित्व है वहाँ अस्तित्व किस भाँति रहेगा? लेकिन इन दोनों धर्मों में विरोध नहीं है। यही नहीं, वरन् साहचय संबंध है। जहाँ अस्तित्व है वहाँ नास्तित्व, और जहाँ नास्तित्व

है--वहाँ अस्तित्व अवश्य होगा। एक के बिना दूसरा रह नहीं सकता। मगर यहाँ अपेक्षाभेद का ध्यान अवश्य रखना चाहिए। तात्पर्य यह है कि एक ही अपेक्षा से अगर अस्तित्व और नास्तित्व-दोनों एक पदार्थ में स्वीकार किये जाएँ तो विरोध आता है, मगर अलग-अलग अपेक्षाओं से दोनों का एक ही पदार्थ में अस्तित्व मानना विरुद्ध नहीं है। उदाहरण के लिए वस्त्र को ही लीजिए। वस्त्र में अपने स्वरूप की अपेक्षा अस्तित्व है, पररूप की अपेक्षा नास्तित्व है। अर्थात् वस्त्र, वस्त्र है, चश्मा, घड़ा, या घड़ी आदि नहीं है। इस प्रकार वस्त्र में जहाँ अस्तित्व है--वहाँ नास्तित्व भी है। अगर वस्त्र में पररूप से नास्तित्व न माना जाय तो वस्त्र पररूप भी हो जायगा अर्थात् चश्मा, घड़ा, घड़ी आदि भी--कहलाएगा। इस प्रकार प्रति-नियत पदार्थों की व्यवस्था होना असंभव हो जायगा। अतएव विवक्षाभेद से प्रत्येक पदार्थ में अस्तित्व और नास्तित्व दोनों स्वीकार करने चाहिए।

यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि अस्तित्व, अस्तित्व रूप में ही परिणत होता है और नास्तित्व, नास्तित्व रूप में ही परिणत होता है, यह प्रश्न क्यों किये गये हैं? अस्तित्व, अस्तित्व रूप में ही परिणत होता है? यह एक ही प्रश्न क्यों नहीं किया गया?

इस प्रश्न का समाधान यह है कि केवल अस्तित्व संबंधी प्रश्न करने से सब वस्तुएँ एक रूप हो जातीं, ऐसा न हो

इसीलिए नास्तित्व को भी बतलाया है। जहाँ अस्तित्व है, वहाँ नास्तित्व भी अवश्य है, इस सत्य को प्रकाशित करने के लिए नास्तित्व संबंधी प्रश्न की आवश्यकता थी। नास्तित्व को ग्रहण न करने से वेदान्तियों के अद्वैतवाद का प्रसंग आ जाता, जो समीचीन नहीं है। प्रत्येक वस्तु केवल सत्तामय नहीं है, वरन् सत्ता और असत्तामय है। उंगली, उंगली है, अंगूठा नहीं है। उंगली यदि उंगली रूप में अस्ति है तो अंगूठा रूप में नास्ति है। इसका यह अर्थ नहीं है कि अंगूठा स्वयं अंगूठे के रूप में नास्ति है। जो है वही है, वह अन्य वस्तु रूप नहीं है। ऐसा न माना जाय तो जगत् में पदार्थों की जो विभिन्नता दृष्टिगोचर होती है, विभिन्न पदार्थों के विभिन्न नाम और रूप जो स्पष्ट दिखलाई देते हैं और उन पदार्थों से जो स्वानुभव-प्रमाण-सिद्ध पृथक् पृथक् व्यवहार होते हैं, वह सब मटियामेट हो जाएँगे। अतएव यही मानना अनुभव और युक्ति से अनुकूल है कि प्रत्येक पदार्थ में स्वविषयक अस्तित्व के साथ पर विषयक नास्तित्व भी विद्यमान है।

एकान्त नास्तित्व मानने से पदार्थों की अनुभवसिद्ध सत्ता ही भंग हो जाती है, अतएव एकान्त अस्तित्व की भाँति एकान्त नास्तित्व भी पदार्थों में नहीं माना जा सकता। ऐसी दशा में अस्तित्व और नास्तित्व दोनों ही पदार्थ में मानने उचित है और इसी अभिप्राय से यहाँ अस्तित्व और नास्तित्व दोनों के विषय में प्रश्न किये गये हैं।

है—वहाँ नास्तित्व अवश्य होता। एक के बिना दूसरा रह नहीं सकता। मगर यहाँ अपेक्षाभेद का ध्यान अवश्य रखना चाहिए। तात्पर्य यह है कि एक ही अपेक्षा से अगर अस्तित्व और नास्तित्व-दोनों एक पदार्थ में स्वीकार किये जाएं तो विरोध आता है, मगर अलग-अलग अपेक्षाओं से दोनों का एक ही पदार्थ में अस्तित्व मानना विरुद्ध नहीं है। उदाहरण के लिए वस्त्र को ही लीजिए। वस्त्र में अपने स्वरूप की अपेक्षा अस्तित्व है, पररूप की अपेक्षा नास्तित्व है। अर्थात् वस्त्र, वस्त्र है, चश्मा, घड़ा, या घड़ी आदि नहीं है। इस प्रकार वस्त्र में जहाँ अस्तित्व है—वहाँ नास्तित्व भी है। अगर वस्त्र में पररूप से नास्तित्व न माना जाय तो वस्त्र पररूप भी हो जायगा अर्थात् चश्मा, घड़ा, घड़ी आदि भी—कहलाएगा। इस प्रकार प्रति-नियत पदार्थों की व्यवस्था होना असंभव हो जायगा। अतएव विवक्षाभेद से प्रत्येक पदार्थ में अस्तित्व और नास्तित्व दोनों स्वीकार करने चाहिए।

यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि अस्तित्व, अस्तित्व रूप में ही परिणत होता है और नास्तित्व, नास्तित्व रूप में ही परिणत होता है, यह प्रश्न क्यों किये गये हैं? अस्तित्व, अस्तित्व रूप में ही परिणत होता है? यह एक ही प्रश्न क्यों नहीं किया गया?

इस प्रश्न का समाधान यह है कि केवल अस्तित्व संबंधी प्रश्न करने से सब वस्तुएँ एक रूप हो जातीं, ऐसा न हो

इसीलिए नास्तित्व को भी बतलाया है। जहाँ अस्तित्व है, वहाँ नास्तित्व भी अवश्य है, इस सत्य को प्रकाशित करने के लिए नास्तित्व संबंधी प्रश्न की आवश्यकता थी। नास्तित्व को प्रगट न करने से वेदान्तियों के सत्याद्वैत का प्रसंग आ जाता, जो समीचीन नहीं है। प्रत्येक वस्तु केवल सत्तामय नहीं है, वरन् सत्ता और असत्तामय है। उंगली, उंगली है, अंगूठा नहीं है। उंगली यदि उंगली रूप में अस्ति है तो अंगूठा रूप में नास्ति है। इसका यह अर्थ नहीं है कि अंगूठा स्वयं अंगूठे के रूप में नास्ति है। जो है वही है, वह अन्य वस्तु रूप नहीं है। ऐसा न माना जाय तो जगत् में पदार्थों की जो विचित्रता दृष्टिगोचर होती है, विभिन्न पदार्थों के विभिन्न नाम और रूप जो स्पष्ट दिखलाई देते हैं और उन पदार्थों से जो स्वानुभव-प्रमाण-सिद्ध पृथक् पृथक् व्यवहार होते हैं, वह सब मटियामेट हो जाएँगे। अतएव यही मानना अनुभव और युक्ति से अनुकूल है कि प्रत्येक पदार्थ में स्वविषयक अस्तित्व के साथ पर विषयक नास्तित्व भी विद्यमान है।

एकान्त नास्तित्व मानने से पदार्थों की अनुभवसिद्ध सत्ता ही भंग हो जाती है, अतएव एकान्त अस्तित्व की भाँति एकान्त नास्तित्व भी पदार्थों में नहीं माना जा सकता। ऐसी दशा में अस्तित्व और नास्तित्व दोनों ही पदार्थ में मानने उचित हैं और इसी अभिप्राय से यहाँ अस्तित्व और नास्तित्व दोनों के विषय में प्रश्न किये गये हैं।

[illegible] ने भी इस विषय पर प्रकाश डाल[illegible] [illegible] उदाहरण दिया है। मोमबत्ती के जल जा[illegible] [illegible] समझते हैं कि वह नष्ट हो गई, लेकिन वैज्ञानिकों का [illegible] है कि [illegible] नष्ट नहीं हुई, सिर्फ उसके पुद्गल बिख[illegible] [illegible] जलती हुई मोमबत्ती के पास दो खास यंत्र [illegible] जायें तो उसके परमाणु उन यंत्रों में एकत्रित हो [illegible]। उन्हें मिला देने पर फिर मोमबत्ती बन सकती है। [illegible] आशय यह हुआ कि लोग इस प्रकार रूपान्तर होने को [illegible] मानते हैं, लेकिन वस्तु का असली—मूल रूप [illegible] [illegible] नहीं होता।

[illegible] और हाइड्रोजन नामक दो प्रकार की हवा [illegible] [illegible] बनती है। पानी के न रहने पर आप समझते हैं कि [illegible] अगर वह नष्ट नहीं हुआ—दो हवाओं के [illegible] है। इसी प्रकार दीपक के बुझ जाने पर [illegible] नहीं हुआ, किन्तु वह अँधेरे के रूप में [illegible]

[illegible] को नास्तित्व समझना [illegible] नास्तित्व है — अस्तित्व कभी [illegible] उत्पत्ति नहं [illegible] यह बात [illegible] जा चुकी [illegible], जो [illegible] भी [illegible] से [illegible]

अस्तित्व, अस्तित्व में और नास्तित्व नास्तित्व में परिणत होता है, यह निर्णय हो जाने के पश्चात् गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवन्! अस्तित्व अस्तित्व में और नास्तित्व नास्तित्व में परिणत होता है, सो स्वभाव से परिणत होता है—या प्रयोग से ? अर्थात् जीव के व्यापार से ? इस प्रश्न का उत्तर भगवन् ने यह फर्माया है कि दोनों प्रकार से परिणत होता है।

प्रयोग का अर्थ है व्यापार—जीव का व्यापार। जीव के व्यापार से भी अस्तित्व, अस्तित्व रूप में परिणत होता है। जैसे कुम्हार के व्यापार से मिट्टी के पिंड का घट रूप में परिणत होना। अथवा जैसे मनुष्य की क्रिया से सीधी उंगली का टेढ़ी हो जाना। यह अस्तित्व का अस्तित्व में परिणमन प्रयोग से हुआ। इसी प्रकार जीव के व्यापार के बिना भी अस्तित्व अस्तित्व में परिणत होता है। जैसे सफेद बादलों का काला हो जाना। इस परिणमन में किसी जीव के व्यापार की आवश्यकता नहीं है।

इसी प्रकार नास्तित्व का नास्तित्व रूप में परिणमन भी प्रयोग से और स्वभाव से होता है। उंगली आदि का अंगूठा आदि रूप में न होना नास्तित्व कहलाता है। अर्थात् उंगली की अपेक्षा अंगूठे का अस्तित्व ही नास्तित्व है। यह अंगूठा रूप नास्तित्व उंगली आदि के नास्तित्व में—अंगूठा वगैरह के पर्यायान्तर अस्तित्व में परिणत होता है। उदाहरणार्थ-मिट्टी का नास्तित्व, तंतु आदि रूप है और वह घट में विद्यमान है।

इस कथन का आशय यह नहीं समझना चाहिए कि स्वभाव से या प्रयोग से नास्तित्व, अस्तित्व रूप में परिणत होता है और न यही आशय समझना चाहिए कि अमुक परिणमन स्वभाव से ही होता है और अमुक परिणमन प्रयोग से ही होता है।

अब गौतम स्वामी प्रश्न करते हैं कि—भगवन् ! सामान्य रूप से तो पदार्थ जैसे हैं वैसे ही रहते हैं, लेकिन कभी अतिशयवान्—प्रबल-कारण मिल जाने से अन्यथा प्रकार के भी हो जाते हैं। जैसे-अतिशायी के प्रभाव से अग्नि का शीतल होना और विष का अमृत हो जाना। तो क्या प्रत्येक अवस्था में अस्तित्व अस्तित्व रूप और नास्तित्व नास्तित्व रूप ही रहता है या सबल कारण मिल जाने पर अन्यथा परिणमन भी हो जाता है ?

इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने फर्माया—गौतम ! ऐसा नहीं हो सकता। चाहे जितना प्रबल कारण क्यों न हो, मगर जैसे अस्तित्व अस्तित्व रूप में परिणत होता है, उसी प्रकार नास्तित्व नास्तित्व रूप में परिणत होता है। और जैसे नास्तित्व नास्तित्व रूप में परिणत होता है उसी प्रकार अस्तित्व अस्तित्व रूप में परिणत होता है।

गौतम स्वामी के प्रश्न का आशय यह है कि अतिशय शक्तिसम्पन्न कारण के प्रभाव से विचित्र कार्य उत्पन्न होता है,

जैसे अग्नि में शीतलता का उत्पन्न हो जाना। अग्नि में शीतलता का अस्तित्व नहीं है, फिर भी वह शीतल हो गई और उसमें उष्णता का अस्तित्व नहीं रहा। ऐसा देखा जाता है। फिर भी क्या अस्तित्व अस्तित्व रूप में ही परिणत होता है?

इस प्रश्न का जो उत्तर भगवान ने दिया, उसका आशय यह है कि पदार्थों में जो धर्म है वह उनमें सदा विद्यमान रहता है। प्रत्येक पदार्थ में अनन्त गुण हैं। यह नहीं समझना चाहिए कि जिस पदार्थ में जो गुण प्रसिद्ध है, उसके सिवा कोई दूसरा गुण उसमें है ही नहीं। अगर ऐसा होता तो अग्नि कदापि शीतल न होती। उदाहरण के लिए, दीपक प्रकाशमय है। वह बुझ जाने पर अंधकार के रूप में परिणत हो गया। यह अस्तित्व का अस्तित्व रूप में परिणमन हुआ। यहाँ अस्तित्व, नास्तित्व में या नास्तित्व, अस्तित्व में परिणत नहीं हुआ है। जिस प्रकार दीपक का पलटा हुआ, उसी प्रकार आत्मशक्ति के द्वारा भी वस्तु में पलटा हो जाता है—जैसे अग्नि शीतल हो जाती है—लेकिन अस्तित्व का नास्तित्व और नास्तित्व का अस्तित्व कदापि नहीं बन सकता।

गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवन्! ऐसा स्वभाव की अपेक्षा से है या प्रयोग की अपेक्षा से? इसके उत्तर में भगवान ने फ़र्माया—दोनों की अपेक्षा से अस्तित्व अस्तित्व में और नास्तित्व नास्तित्व में परिणत होता है।

इसके अनन्तर गौतम स्वामी पूछते हैं — भगवन् ! क्या [illegible] अस्तित्व में गमनीय है ?

इस प्रश्न का आशय यह है कि इससे पहले जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है, वह केवल समझने के लिए ही है या प्ररूपणा के लिए भी है ?

गौतम स्वामी के प्रश्न का भगवान् ने उत्तर दिया — हे गौतम ! अस्तित्व अस्तित्व में परिणत होता है और नास्तित्व नास्तित्व में परिणत होता है, यह गमनीय है। अर्थात् प्ररूपणा करने के लिए है। जो वस्तु जैसी है, उसका उसी प्रकार प्ररूपणा करना उचित ही है।

श्रीगौतम स्वामी पूछते हैं — हे भगवान् ! आप अस्तित्व और नास्तित्व का जैसा स्वरूप देखते हैं, वैसा ही प्ररूपणा करते हैं ?

यद्यपि गौतम स्वामी को भगवान के ज्ञान और निरूपण के संबंध में किसी प्रकार की शंका नहीं है, तथापि अन्य लोगों की शंका-निवारण के लिए उन्होंने ऐसा प्रश्न किया है।

भगवान इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं — गौतम ! अस्तित्व और नास्तित्व का जैसा स्वरूप मैं देखता हूँ, वैसा ही प्ररूपणा भी करता हूँ। अस्तित्व देखता हूँ तो अस्तित्व में परिणमन बतलाता हूँ और नास्तित्व देखता हूँ तो नास्तित्व में परिणमन बतलाता हूँ। जैसा मैं देखता हूँ, उससे विरुद्ध नहीं प्ररूपणा करता।

इस के अनन्तर श्रीगौतम स्वामी इसी प्रश्न को प्रकारान्तर से दोहराते हैं। वस्तु की प्ररूपणा के विषय में समभाव से— बिना किसी भेदभाव से-बतलाते हैं, यह जानने के लिए विषय का आधार लेकर प्रश्न करते हैं।

श्रीगौतम स्वामी पूछते हैं—भगवन्! आपके वचन सुनने से तृप्ति नहीं होती, अतः संसार का प्रतिनिधि बन कर मैं आपसे पूछता हूँ कि आप मेरे और दूसरे का भेद न रखकर यह सब समभाव से कहते हैं? आत्मीयजनों पर राग और परायों पर द्वेष न रखकर समभाव से प्ररूपणा करते हैं? या स्व-पर का भेद न करके प्ररूपणा करते हैं? आप परोपकार-बुद्धि से प्ररूपणा करते हैं? जैसे मुझसे मेरा शिष्य पूछे और मैं प्रेम से बतलाऊँ, उसी प्रकार आप भी मुझे प्रेम से बतलाते हैं। क्या पाखंडी और गृहस्थ को भी इसी प्रकार बतलाते हैं?

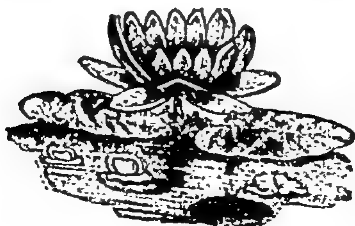
यहाँ 'तुच्छ' का अर्थ 'स्वशिष्य' है और 'इतर' का अर्थ है—गृहस्थ तथा पाखंडी आदि।

गौतम स्वामी के प्रश्न का आशय यह है कि जैसे मैं भक्तिपूर्वक आपसे पूछता हूँ और आप समभाव पूर्वक कहते हैं, उसी प्रकार क्या पाखण्डी से भी कहते हैं? अथवा उसका मान भंग करने के लिए और प्रकार से भी कहते हैं? अर्थात् सराग होने के कारण जैसे मैं अपने-पराये का भेद देखता हूँ,

वैसा भेद आप तो नहीं देखते ? संभवतः गौतम स्वामी का यह संकेत गोशालक और जमाली आदि की ओर है।

अथवा—'एत्थ' का अर्थ है-'स्वात्मा' यानी आप अपने स्वात्मा में सुख से जैसा देख रहे हैं, पर आत्मा में भी वैसा ही देखते हैं ? आप अपने आत्मा को जैसे सुख प्यारा देखते हैं वैसे ही दूसरे की आत्मा को भी देखते हैं ?

अथवा—'एत्थ' और 'इह' दोनों समानार्थक शब्द हैं और उनका अर्थ है-प्रत्यक्षाधिकरणता। जैसे 'एत्थ' यह "एतत्' शब्द का रूप है उसी प्रकार 'इह' यह भी 'एतत्' शब्द का ही रूप है। अतः इन दोनों शब्दों का अर्थ समान ही समझना चाहिए। जो वस्तु प्रत्यक्ष हो, उसके लिए 'एतत्' शब्द का प्रयोग होता है। इसीलिए 'एत्थ' और 'इह' दो का अर्थ है—प्रत्यक्षगम्य।



कांक्षामोहनीय के बंध आदि के कारण

प्रश्न—जीवा णं भंते ! कंखामोहणिज्जं कम्मं बंधंति ?

उत्तर—हंता, गोयमा ! बंधंति ।

प्रश्न—कह णं भंते ! जीवा कंखामोहणिज्जं कम्मं बंधंति ?

उत्तर—गोयमा ! पमादपच्चया, जोगनिमित्तं च ।

प्रश्न—से णं भंते ! पमाए किंपवहे ?

उत्तर—गोयमा ! जोगप्पवहे ।

प्रश्न—से णं भं. ! जोए [illegible] ?

उत्तर— [illegible] र्या

जानने योग्य सम्पूर्ण पदार्थों को केवल ज्ञान और केवल द[illegible] से जानते और देखते हैं। वीर्य के अभाव में ज्ञान और द[illegible] नहीं हो सकते। यद्यपि केवली जानते हैं ज्ञान से ही और देखते हैं दर्शन से ही, तथापि वीर्य के अभाव में नहीं। सिद्धों और केवलियों में; जो कि लेश्या से रहित—अलेश्य हैं, जो वीर्य विद्यमान है वह अकरण वीर्य कहलाता है। यहाँ [illegible] अकरण वीर्य का प्रकरण नहीं है। यहाँ सकरण वीर्य से [illegible] है। सकरण वीर्य का स्वरूप यह है—लेश्या वाले जीव का मन, वचन, काय रूप साधन वाले आत्मप्रदेशों के परिस्प[illegible] [illegible] को सकरण वीर्य कहते हैं। करण का अर्थ [illegible] साधन मन, वचन और काय का व्यापार [illegible] वीर्य [illegible] चाहिए। यह वीर्य [illegible] [illegible], बिना शरीर के नहीं हो सकता।

[illegible]

सकरण वीर्य, मन, वचन और काय के व्यापार से होता है। पहले गुणस्थान से तेरहवें गुणस्थान तक के जीव आत्मप्रदेशों से चलायमान होना जीव व्यापार कहलाता इस व्यापार को सकरण वीर्य कहते हैं। सकरण वीर्य, वचन, काय रूप साधन के बिना नहीं होता और बिना वीर्य के योग की उत्पत्ति नहीं होती। इसलिए योग को पन्न करने वाले वीर्य की उत्पत्ति शरीर से है।

इसके अनन्तर गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवान! शरीर ससे पैदा होता है? इसके उत्तर में भगवान ने कहा—गौतम! रीर जीव से उत्पन्न होता है।

शरीर की एक ज़रा-सी बिगड़ी हुई आँख को सुधार देने ले की प्रशंसा की जाती है, तो हे चिदानन्द! तू अपनी रचना र विचार कर कि तूने यह शरीर किस प्रकार बना लिया है।

यूरोप में मनुष्य के शरीर के एक एक अंग के निष्णात हुत से डाक्टर हैं। जो आँख का काम करता है, वह आँख का ही करता है, दाँत का डाक्टर दाँत का ही इलाज़ करता है। यद्यपि वे डाक्टर एक एक अंग पर ही अपनी सारी आयु समाप्त कर देते हैं, फिर भी शरीर का कोई अंग नया नहीं बना सकते। इस जीव ने जो शरीर बनाया है वह अनुपम है। कान कान में भी छिद्र है और नाक में भी छिद्र है। छिद्र दोनों में समान हैं, लेकिन सुनने का काम कान का ही छिद्र करता है

उत्तर—गौतम ! यहाँ भी पूर्वोक्त समस्त पाठ समझनी चाहिए। विशेषता यह है—उदीर्ण को वेदता है, अनुदीर्ण को नहीं वेदता है। यथा इस प्रकार यावत् पुरुषकार पराक्रम है।

प्रश्न—भगवन् ! जीव अपने आप ही निर्जरा करता है, गर्हा करता है ?

उत्तर—गौतम ! यहाँ भी समस्त परिपाटी पूर्ववत् समझनी चाहिए। इस प्रकार यावत् पुरुषकार पराक्रम है।

व्याख्यान

यहाँ गौतम स्वामी ने कांक्षामोहनीय कर्म की उदीरणा, गर्हा, और संवर के विषय में प्रश्न किया है। वे पूछते हैं—भगवन् ! क्या जीव कांक्षामोहनीय को आप ही उदीरता है, आप ही गर्हता है ? और आप ही संवरता है ? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान ने फ़र्माया—हाँ, गौतम ! जीव आप ही उदीरणा आदि करता है।

उदीरणा आदि का एक मात्र जीव ही कारण नहीं है, किन्तु काल आदि सामग्री भी कारण है। उसका वर्णन आगे किया जायगा। इसलिए प्रश्न में काल आदि सामग्री

ल्लेख न करके केवल जीव का ही कथन किया गया है। सीकारण भगवान ने भी उत्तर में जीव का ही कथन कया है।

यहाँ यह आशंका की जा सकती है कि जीव उदीरणा रता है काल आदि अन्य की सहायता से, फिर उनका नाम लेकर केवल जीव का ही नाम क्यों लिया गया है? उनका ाम क्यों नहीं लिया गया? इस आशंका का समाधान यह है क घड़ा कुंभार ही नहीं बनाता है, किन्तु उसके बनने में पानी, डा, चाक, और काल आदि की सहायता भी अपेक्षित होती है। ऐसी हालत में घड़ा बनाने में कुंभार का ही नाम क्यों लेया जाता है? अन्य सहायकों का नाम क्यों नहीं लिया जाता? मिट्टी गधे पर लाद कर लाई जाती है, फिर गधा भी घट का कर्त्ता क्यों नहीं कहलाता? इसका कारण यही है कि चाक आदि घड़ा बनने में सहायक तो हैं, लेकिन मुख्य कर्त्ता कुंभार ही है। इसलिए सब को घड़े का कर्त्ता न मान करके केवल कुंभार को ही कर्त्ता कहा जाता है। अगर ऐसा न किया जाय तो धर्म और व्यवहार–दोनों में ही गड़बड़ी पैदा हो जायगी। राज्य में सेनापति वही बनाया जाता है जो बल-पराक्रम आदि में सब से श्रेष्ठ हो। इसी प्रकार अनेक कारणों में से जो कारण प्रधान होता है, उसी को कर्त्ता कहते हैं, क्योंकि वह कार्य करने में स्वतंत्र होता है। चाक, पानी आदि अन्य कारण उसी की इच्छा पर निर्भर रहते हैं।

[illegible]

[illegible]

[illegible] ... उन्हें त्याग कर देना [illegible] है।

गर्हा—अतीत काल में जो कर्म किया है, उनके कार्य को ग्रहण करके अपने आत्मा की निन्दा करना अर्थात्— हाय! मैंने चोरी की, असत्य भाषण किया, इत्यादि रूप से

ये बंध के कारणों का विचार करके आत्मनिन्दा करना गर्हा कहलाता है।

अपने यहाँ कई लोग कर्मों की निन्दा करते हैं, परन्तु इससे कोई विशेष लाभ नहीं है। वास्तव में कर्म करने वाले को स्व-आत्मा की निन्दा करनी चाहिए। इससे भविष्य काल में पापकर्म के प्रति विरक्ति का भाव जागृत होता है। गर्हा, उदीरणा में सहायक होती है। बारह प्रकार के तप में एक प्रायश्चित्त भी तप है और वह गर्हा के पश्चात् होता है। जब तक गर्हा न हो, तबतक प्रायश्चित् नहीं होता।

संवर—वर्त्तमान में किये जाने वाले पापकर्म के स्वरूप को जानकर या उसके हेतु को समझ कर उस कर्म को रोकना संवर कहलाता है। जैसे-चोरी या व्यभिचार को उसका निन्दनीय स्वरूप समझकर त्याग दिया, या चोरी और व्यभिचार के कारण को जानकर उसे त्याग दिया, तो वह संवर कहलाया।

आत्मा जैसे बंधका आप ही कर्त्ता है, उसी प्रकार उदीरणा, गर्हा और संवर का भी कर्त्ता आत्मा ही है।

शंका—अगर आत्मा स्वयं ही उदीरणा, गर्हा और संवर आदि का कर्त्ता है तो फिर गुरु के उपदेश आदि निरर्थक क्यों न माने जाएं?

समाधान—ऐसी बात नहीं है। संवर आदि में गुरु के उपदेश की सहायता भी आवश्यक है। लेकिन गुरु का उप-

कर्म के बंध और उदीरणा आदि में आत्मा का व्यापार ही मुख्य है। घड़े में चाक आदि की भाँति और-और कारण सहायक अवश्य हैं, लेकिन वे गौण हैं। मुख्य को छोड़कर गौण को कर्त्ता नहीं बनाया जाता। कर्म के बंध आदि में मुख्य कर्त्ता जीव ही है, इसलिए जीव को ही कर्त्ता कहा है। आचार्य इस संबंध में प्रमाण का उल्लेख करते हैं—

अणुमेत्तो वि न कस्सइ बंधो परवत्थुपच्चया भणिओ।

अर्थात्—आत्मा के सिवाय अणुमात्र बंध भी उसे किसी अन्य वस्तु के कारण नहीं हो सकता। किसी भी वस्तु का बंध किसी अन्य वस्तु के निमित्त से नहीं होता।

अब यह देखना चाहिए कि उदीरणा किसे कहते हैं? भविष्य काल में उदय आने वाले कर्म को, शीघ्र नष्ट करने के लिए, करण विशेष द्वारा खींचकर उदयावलिका में लाना उदीरणा कहलाता है। मानलीजिए-किसी आदमी ने कर्म बाँधे। वे भविष्य में उदित होंगे। लेकिन नियत समय में उदय आने के पूर्व ही तप आदि द्वारा उदयावलिका में खींचकर उन्हें भस्म कर देना उदीरणा है।

गर्हा—अतीत काल में जो कर्म किया है, उनके कारणों को ग्रहण करके अपने आत्मा की निन्दा करना अर्थात्—हाय! मैंने चोरी की, असत्य भाषण किया, इत्यादि रूप से

र्म बंध के कारणों का विचार करके आत्मनिन्दा करना गर्हा
कहलाता है।

अपने यहाँ कई लोग कर्मों की निन्दा करते हैं, परन्तु
इससे कोई विशेष लाभ नहीं है। वास्तव में कर्म करने वाले
को स्व-आत्मा की निन्दा करनी चाहिए। इससे भविष्य काल में
पापकर्म के प्रति विरक्ति का भाव जागृत होता है। गर्हा, उदी-
रणा में सहायक होती है। बारह प्रकार के तप में एक
प्रायश्चित्त भी तप है और वह गर्हा के पश्चात् होता है। जब
तक गर्हा न हो, तबतक प्रायश्चित् नहीं होता।

संवर—वर्त्तमान में किये जाने वाले पापकर्म के स्वरूप को
जानकर या उसके हेतु को समझ कर उस कर्म को रोकना
संवर कहलाता है। जैसे-चोरी या व्यभिचार को उसका
निन्दनीय स्वरूप समझकर त्याग दिया, या चोरी और व्यभिचार
के कारण को जानकर उसे त्याग दिया, तो वह संवर कहलाया।

आत्मा जैसे बंधका आप ही कर्त्ता है, उसी प्रकार उदीरणा,
गर्हा और संवर का भी कर्त्ता आत्मा ही है।

शंका—अगर आत्मा स्वयं ही उदीरणा, गर्हा और संवर
आदि का कर्त्ता है तो फिर गुरु के उपदेश आदि निरर्थक क्यों
न माने जाएं ?

समाधान—ऐसी बात नहीं है। संवर आदि में गुरु के
उपदेश की सहायता भी आवश्यक है। लेकिन गुरु का उप-

देख लेते गुरु भी [illegible] आत्मा का है, इस लिए उपादानकारण आत्मा ही है। गुरु का उपदेश आदि तो [illegible] नहीं है। जब तक आत्मा स्वयं गुरु [illegible] के लिए तैयार नहीं, गुरु आदि से कुछ भी नहीं हो सकता। जो स्वयं आलोचना करने को तैयार न होगा, उससे गुरु आदि कोई भी आलोचना नहीं करा सकते। गुरु आत्मा को शिक्षा देते जाते हैं, पर करने वाला तो आत्मा ही है। गुरु उपदेश देकर आत्मा के सुप्त पड़े हुए वीर्य को उत्तेजित कर देते हैं लेकिन करता आत्मा ही है। इसलिए आत्मा आप ही उदीरणा करता है, आप ही गर्हा करता है और आप ही संवर करता है।

इसके पश्चात् गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवन् ! यह तो समझ में आगया कि आत्मा स्वयं ही कर्म की उदीरणा, गर्हा और संवरणा करता है, लेकिन यह किन कर्मों की उदीरणा करता है ? उदीर्ण (उदय में आये हुए) कर्म की उदीरणा करता है या अनुदीर्ण (जो अभी तक उदय में नहीं आये) की उदीरणा करता है ? या जो अनुदीर्ण हैं मगर उदीरणा करने के योग्य हैं उनकी उदीरणा करता है ? या उदय हो चुकने के बाद पश्चात्कृत कर्म की उदीरणा करता है ?

शंका—पहले प्रश्न में यह कहा गया है कि आत्मा स्वयं ही कर्म की उदीरणा, गर्हा और संवरणा करता है; लेकिन इसके बाद जो प्रश्न किया गया है कि आत्मा उदीर्ण कर्म की

उदीरणा करता है या अनुदीर्ण की करता है, या अनुदीर्ण-उदीरणा योग्य की करता है या उदयानन्तर पश्चात्कृत की उदीरणा करता है। सो इस प्रश्न में सिर्फ उदीरणा का ही ग्रहण क्यों किया है? यहाँ गर्हा और संवर को क्यों छोड़ दिया? अर्थात् यह क्यों नहीं पूछा कि उदीर्ण कर्म की गर्हा करता है, या अनुदीर्ण की गर्हा करता है आदि। इसी प्रकार संवर के विषय में भी प्रश्न क्यों नहीं किया?

समाधान—उदीर्ण, अनुदीर्ण, अनुदीर्ण-उदीरणायोग्य और उदयानन्तर पश्चात्कृत, यह चार विशेषण उदीरणा के लिए ही हैं, इसलिए इन चार विशेषणों द्वारा उदीरणा के विषय में ही प्रश्न किया गया है। इन चारों विशेषणों में से एक भी विशेषण का सम्बन्ध गर्हा और संवर के साथ नहीं है। अतएव चारों में से किसी भी विशेषण का प्रयोग गर्हा और संवर के विषय में नहीं हो सकता।

शंका—अगर उदीरणा के साथ गर्हा और संवरणा का सम्बन्ध नहीं है तो फिर पहले के प्रश्न में इन तीनों को एक साथ क्यों रक्खा गया है? यहाँ सिर्फ उदीरणा पर क्यों न ग्रहण किया?

समाधान—गर्हा और संवरणा, दोनों उदीरणा के साधन हैं। यह बात प्रकट करने के लिए ही इन दोनों पदों को उदीरणा के साथ रक्खा है। इसी प्रकार सब जगह समझना

शास्त्रकार कहते हैं—कर्म की उदीरणा में काल, स्वभाव, नियति (होनहार) आदि भी कारण हैं, लेकिन प्रधानता आत्मा के वीर्य की ही है। कल्पना कीजिए, किसी ने कहा—पुत्र, स्त्री के होता है।

इस कथन पर कालवादी कहता है—स्त्री तो दो वर्ष की कन्या भी होती है। उसके पुत्र क्यों नहीं होता? इससे प्रतीत होता है कि काल ही पुत्रप्रसव का कारण है, क्योंकि अमुक काल व्यतीत होने पर ही पुत्र होता है।

स्वभाववादी ने कहा—अगर अमुक काल (अवस्था) से ही पुत्र होता है तो फिर वंध्या स्त्री भी उस अवस्था को प्राप्त है। इससे यह सिद्ध होता है कि स्वभाव ही पुत्र होने का कारण है।

तब नियतिवादी कहता है—हमने काल और स्वभाव दोनों देखे। न काल कारण है और न स्वभाव कारण है। एक स्त्री के तीस-चालीस वर्ष की अवस्था तक लड़का नहीं हुआ। यद्यपि वह अवस्था प्राप्त भी थी और लड़का जनने का उसमें स्वभाव भी मौजूद था। इसके बाद उसके लड़का हुआ। इस से यह साबित होता है कि नियति अर्थात् होनहार ही असल में कारण है। जो कुछ होता है, होनहार से ही होता है।

नियतिवादी का कथन सुनकर ईश्वरवादी कहने लगा—होना या न होना ईश्वर के अधीन है। ईश्वर चाहता है तो लड़का होता है, नहीं चाहता तो नहीं होता।

पुरुषार्थवादी कहता है—अगर सभी कुछ होना ईश्वराधीन है तो हाथ-पैर हिलाने की क्या आवश्यकता है ? पुरुषार्थ से सिद्धि होती है, यह बात प्रत्यक्ष से सिद्ध है। अतएव पुरुषार्थ को ही कारण मानना चाहिए। सब कुछ पुरुषार्थ से ही होता है। विना पुरुषार्थ के पुत्र होना कभी और कहीं नहीं सुना जाता। अगर पूर्व जन्म के कर्म से पुत्र की उत्पत्ति मानी जाय तो वह कर्म भी पुरुषार्थ जन्य ही है।

इस प्रकार कर्म की उदीरणा में काल, स्वभाव आदि को भी अगर कर्त्ता माना जाय तो बड़ी गड़बड़ी होगी। इसके सिवा काल जड़ है। अगर काल ही कर्त्ता हो तो फिर पुरुषार्थ न करने पर भी कार्य (उदीरणा) होना चाहिए। इसी प्रकार स्वभाव और होनहार कोई स्वतंत्र पदार्थ नहीं हैं। जड़ को कर्त्ता मानना और साक्षात् कर्त्ता को कर्त्ता न मानना कैसे ठीक कहा जा सकता है ? इसी प्रकार अगर ईश्वर सब कार्यों का कर्त्ता हो तब भी पुरुषार्थ व्यर्थ हो जाता है। इसके अतिरिक्त ईश्वर को कर्त्ता मानने से और भी अनेक प्रकार की गड़बड़ी होती है। ईश्वर में अनेक दोषों का प्रसंग आता है। अतएव प्रधान कर्त्ता पुरुषार्थ ही है।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि उदीरणा आदि कार्यों में काल, स्वभाव आदि भी कारण होते हैं, मगर आत्मा का वीर्य ही प्रधान कारण है। इस बात को प्रकट करने के लिए गौतम स्वामी प्रश्न करते हैं—भगवन् ! आत्मा अनुदीर्ण किन्तु

उदीरणा के योग्य कर्म की उदीरणा करता है, सो वह उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पुरुषार्थ-पराक्रम से उदीरणा करता है यानी पुरुषार्थ से करता है या काल, स्वभाव आदि से आप ही उदीरणा हो जाती है ?

इस प्रश्न के उत्तर में भगवान फर्माते हैं—हे गौतम ! आत्मा ऐसे कर्म की उदीरणा उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पुरुषकार पराक्रम से करता है। इनके बिना उदीरणा नहीं होती।

इससे यह सिद्ध हुआ कि जो कुछ होना है वह आत्मा के पुरुषार्थ से होता है और आत्मा में उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पुरुषकार-पराक्रम विद्यमान हैं।

इस प्रश्नोत्तर से पुरुषार्थ की सिद्धि होती है। यद्यपि कर्म उदीरणा के योग्य हैं, फिर भी उनकी उदीरणा अपने आप न होगी, किन्तु पुरुषार्थ से होगी। अतः जीव को किसी दूसरे के भरोसे न रहकर पुरुषार्थ करना चाहिए। क्या होने वाला है, और क्या नहीं होने वाला है, यह तभी मालूम होगा जब पुरुषार्थ करोगे। भगवान ने स्पष्ट कह दिया है कि उदीरणा होने योग्य कर्म की उदीरणा भी पुरुषार्थ से होती है। इसलिए पुरुषार्थ करते रहना चाहिए। पुरुषार्थ से कदाचित् कोई कार्य-विशेष न हो तब भी पुरुषार्थ कभी खाली नहीं जाता। उदाहरणार्थ, एक आदमी फल लेने के लिए बाग में गया। बाग में उसे फल नहीं मिले। तब भी बाग में जाने से सुगंध और

मोहस्सेवोवसमो, खओवसमो चउण्हं घाईणं।
उदय-क्खय परिणामा, अट्ठण्ह विहोंति कम्माणं॥

अर्थात्—उपशम मोहनीय कर्म का ही होता है, क्षयोपशम ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय, इन चार घाति कर्मों का ही होता है, तथा उदय, क्षय और परिणाम आठों ही कर्मों का होता है।

उपशम का अर्थ यह है—उदीर्ण (उदय में आये हुए) कर्म का क्षय होना, और जो उदय में नहीं आये हैं उनके विपाक और प्रदेश का अनुभव न होना। कर्म की ऐसी अवस्था को उपशम कहते हैं।

यहाँ यह कहा जा सकता है कि ऐसा होना तो क्षयोपशम है, उपशम क्यों कहा? इसका समाधान यह है कि क्षयोपशम में भी उदीर्ण कर्म का क्षय होता है, लेकिन वहाँ प्रदेश से कर्म का अनुभव होता है, सिर्फ विपाक से अनुभव नहीं होता। इस प्रकार जब कर्म के प्रदेश और विपाक का अनुभव नहीं होता तब उपशम कहलाता है और जब सिर्फ विपाक से अनुभव नहीं होता, लेकिन प्रदेश से अनुभव होता है तब क्षयोपशम कहलाता है। यह उपशम और क्षयोपशम में अन्तर है। उदाहरणार्थ—एक अग्नि जल रही थी और उसकी लपटें उठकर जला रही थीं। उस अग्नि पर टोकरी भर कर राख डाल दी गई। राख पड़ने से लपटों का निकलना बंद होगया और

है। इनके आने से, मुझे शरीर और संसार पर जो व
था, वह चकनाचूर हो गया है। ऐसा विचार कर सनत्कु
चक्रवर्त्ती ने दीक्षा ले ली। वही पहले वाला देव, वैद्य ब
सनत्कुमार मुनि के पास उनकी परीक्षा करने आया। उ
मुनि से कहा—महाराज! आपके शरीर में बहुत रोग हैं।
वैद्य हूँ आप कहें तो इनकी चिकित्सा कर दूँ।

सनत्कुमार मुनि बोले—वैद्यराज, आप आन्तरिक रो
की चिकित्सा करेंगे या बाह्य रोगों की?

वैद्य (देव)—महात्मन्! मैं आत्मा का रोग तो नहीं मि
सकता। हाँ, शरीर के रोग मिटा दूँगा।

मुनि—मुझे ऐसी लब्धि प्राप्त है कि अगर चाहूँ तो ए
क्षण में तमाम रोग दूर हो सकते हैं। मगर यह रोग मेरे मित्र
हैं, उपकारक हैं इसलिए मैं इन्हें नष्ट नहीं करना चाहता।

इतना कहकर मुनि ने एक जगह अपना पीव (मवाद)
लगाया। देव यह देखकर चकित रह गया कि जिस जगह
पीव लगाया गया, वह जगह कंचन-सी हो गई थी।

मतलब यह है कि वेदना को संवरणा और गर्हा से भोग
जाय तो नवीन कर्मों का बंध नहीं होता।

उदय में आये हुए कर्मों का आत्मप्रदेश से अलग हो जाना
निर्जरा है। यों तो निर्जर शब्द के 'देव' आदि अनेक अर्थ

होते हैं, मगर यहाँ कर्म के प्रकरण में वह नहीं समझना चाहिए।

उदीरणा, उपशमना, वेदना और निर्जरा सम्बन्धी एक संग्रहगाथा कही है। वह इस प्रकार है—

तइएण उदीरेंति, उवसामेंति पुणो वि बीयेणं ।
वेइंति निज्जरंतिय, पढम चउत्थेहिं सव्वे वि ॥

अर्थात्--पहले जो चार भांगे कहे हैं, उनमें से तीसरे भांगे में उदीरणा होती है, दूसरे में उपशम होता है, पहले में वेदन होता है और चौथे में निर्जरा होती है। शेष सब बातें सब में समान हैं।

मूलपाठ—

प्रश्न—नेरइया णं भंते ! कंखामोहणिज्जं कम्मं वेएंति ?

उत्तर—जहा ओहिया जीवा तहा नेरइआ; जाव थणियकुमारा ।

प्रश्न—पुढविक्काइया णं भंते ! कंखामोहणिज्जं कम्मं वेइंति ?

उत्तर—हंता, वेइंति।

प्रश्न—कह णं भंते ! पुढविकाइया
मोहणिज्जं कम्मं वेदेंति ?

उत्तर—गोयमा ! तेसि णं जीवाणं णो
तक्काइ वा, सण्णा इ वा, पण्णा इ वा, मणे इ
वई त्ति वा अम्हे णं कंखामोहणिज्जं कम्मं वेए
वेएंति पुण ते।

प्रश्न—से णूणं भंते ! तमेव सच्चं णीसंकं
जिणेहिं पवेइअं ?

उत्तर—सेसं ते चेव, जाव-पुरिसक्कारपरिक्क
इ वा, एवं जाव चउरिंदियाणं-पंचिंदियतिरिक्ख
जोणिया जाव-वेमाणिया जहा ओहिया जीवा।

प्रश्न—अत्थि णं भंते ! समणा वि निग्गंथ
कंखामोहणिज्जं कम्मं वेएंति ?

उत्तर—हंता, अत्थि।

प्रश्न—कह णं भंते ! समणा निग्गंथा कंखा-मोहणिज्जं कम्मं वेएंति ?

उत्तर—गोयमा ! तेहिं तेहिं कारणेहिं नाणंतरेहिं दंसणंतरेहिं, चरित्तंतरेहिं, लिंगंतरेहिं, पवयणंतरेहिं, पावयणंतरेहिं, कप्पंतरेहिं, मग्गंतरेहिं, मयंतरेहिं, भंगंतरेहिं, णयंतरेहिं, नियमंतरेहिं, पमाणंतरेहिं, संकिया, कंखिया, वितिगिच्छिया, भेअसमावन्ना, कलुससमावन्ना एवं खलु समणा निग्गंथा कंखा-मोहणिज्जं कम्मं वेइंति ।

प्रश्न—से णूणं भंते ! तमेव सच्चं णीसंकं, जं जिणेहिं पवेइअं ?

उत्तर—हंता, गोयमा ! तमेव सच्चं, णीसंकं, एवं जाव पुरिसक्कारपरक्कमेइवा, सेवं भंते ! सेवं भंते !

संस्कृत-छाया—

प्रश्न—नैरयिका भगवन् ! काङ्क्षामोहनीयं कर्म वेदयन्ति ?

उत्तर—यथौधिका जीवास्तथा नैरयिकाः, यावत्-स्तनितकुमाराः ।

उत्तर—हंता, वेइंति ।

प्रश्न—कह णं भंते !
मोहणिज्जं कम्मं वेदेंति ?

उत्तर—गोयमा ! तेसि
तक्काइवा, सरणा इ वा, पण
वई त्ति वा अम्हे णं कंखामोह
वेएंति पुण ते ।

प्रश्न—से णूणं भंते ! तमे
जिणेहिं पवेइअं ?

उत्तर—सेसं ते चेव, जाव-
इ वा, एवं जाव चउरिंदियाणं-
जोणिया जाव-वेमाणिया जहा ओ

प्रश्न—अत्थि णं भंते ! सम
कंखामोहणिज्जं कम्मं वेएंति ?

उत्तर—हंता, अत्थि ।

प्रश्न—कह णं भंते ! समणा निग्गंथा कंखा-मोहणिज्जं कम्मं वेएंति ?

उत्तर—गोयमा ! तेहिं तेहिं कारणेहिं नाणंतरेहिं दंसणंतरेहिं, चरित्ततरेहिं, लिंगंतरेहि, पवयणंतरेहिं, पावयणंतरेहिं, कप्पंतरेहिं, मग्गंतरेहिं, मयंतरेहिं, भंगंतरेहि, णयंतरेहिं, नियमंतरेहिं, पमाणंतरेहिं, संकिया, कंखिआ, वितिगिच्छिआ, भेअसमावन्ना, कलुससमावन्ना एवं खलु समणा निग्गंथा कंखा-मोहणिज्जं कम्मं वेइंति ।

प्रश्न—से णूणं भंते ! तमेव सच्चं णीसंकं, जं जिणेहिं पवेइअं ?

उत्तर—हंता, गोयमा ! तमेव सच्चं, णीसंकं, एवं जाव पुरिसक्कारपरक्कमेइवा, सेवं भंते ! सेवं भंते !

संस्कृत-छाया—

प्रश्न—नैरयिका भगवन् ! काङ्क्षामोहनीयं कर्म वेदयन्ति ?

उत्तर—यथौधिका जीवास्तथा नैरयिकाः, यावत्-स्तनितकुमाराः ।

[illegible] है। केवल [illegible] और [illegible] और [illegible] का और भी कारण है। इन्द्रियाँ दो प्रकार की हैं—प्राप्यकारी और अप्राप्यकारी। जो इन्द्रिय अपने विषय को प्राप्त करके—छूकर उसका ज्ञान कराती है वह प्राप्यकारी कहलाती है और जो प्राप्त किये बिना ही ज्ञान करा देती उसे अप्राप्यकारी कहते हैं। चक्षु इन्द्रिय अप्राप्यकारी है और शेष चार इन्द्रियाँ प्राप्यकारी हैं। उदाहरणार्थ—अगर शब्द कान के साथ संबंध न हो, शब्द कान में न पहुँचे तो जाए तो शब्द का ज्ञान नहीं होता है। शब्द जब कान में पहुँचता है तभी उसका ज्ञान होता है। इसी प्रकार नाक में लेने पर गंध का ज्ञान नहीं होता। जीभ और रसना से छुए हुए बिना वस्तु का रस—खट्टा-मीठापन आदि और सर्द-गर्म आदि मालूम नहीं हो सकता। इस प्रकार श्रोत्र, घ्राण, रसना और स्पर्शन इन्द्रिय को अपने विषय का ज्ञान तब होता है, जब विषय इन्हें प्राप्त हो जाता है। इसलिए यह चार इन्द्रियाँ प्राप्यकारी हैं। आँख के विषय में यह बात नहीं है। आँख जिस रूप को देखती है, उसका आँख के साथ स्पर्श नहीं होता। आँख दूर की चीज़ को तो देखती है मगर अपने आप में के काजल को और अपनी पुतली को नहीं देखती। इसलिए आँख अप्राप्यकारी है। इस भेद को लेकर चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शन, यह दो भेद दर्शन के किए गये हैं।

इस समाधान के विषय में भी एक प्रश्न किया जा सकता है। वह यह कि अगर प्राप्यकारी और अप्राप्यकारी के भेद से दर्शन के दो भेद किये गये हैं तो मन अप्राप्यकारी होने से मनोदर्शन को प्राप्यकारी इन्द्रियों के दर्शन के साथ क्यों कहा है?

इस प्रश्न का समाधान करने के लिए आचार्य कहते हैं—मन अप्राप्यकारी अवश्य है, वह अपने विषय का स्पर्श किये बिना ही उसे देख लेता है, लेकिन वह प्राप्यकारी इन्द्रियों के साथ भी रहता है। मन, सब इन्द्रियों के साथ रहता है—श्रोत्र, घ्राण आदि प्राप्यकारी इन्द्रियों के साथ भी और अप्राप्यकारी चक्षु के साथ भी। मगर प्राप्यकारी इन्द्रियाँ चार हैं और अप्राप्यकारी सिर्फ एक है। अतएव मन प्राप्यकारी इन्द्रियों के साथ अधिक रहता है। इस कारण अप्राप्यकारी होने पर भी उसे प्राप्यकारी इन्द्रियों के साथ गिना है।

अथवा—दर्शन का दूसरा अर्थ 'सम्यक्त्व' है। दर्शन अर्थात् सम्यक्त्व के संबंध में आगे कहे अनुसार शंका होने पर कांक्षा, कलुषितता आदि होने पर कांक्षामोहनीय कर्म का बंध होता है।

शास्त्रों में क्षायोपशमिक सम्यक्त्व और औपशमिक सम्यक्त्व अलग-अलग बतलाये गये हैं। मिथ्यात्व वा अनन्तानुबंधी चौक का, जो उदय में आ गया हो क्षय हो जाए और जो मिथ्यात्व उदय में नहीं आया है उसका उपशम हो ऐसी

अवस्था में होने वाला सम्यक्त्व क्षायोपशमिक कहलाता है। कहा भी है—

मिच्छत्तं जमुदिण्णं तं खीणं, अणुदियं च उवसंतं।

अर्थ–इसका ऊपर बतलाया जा चुका है। दूसरे औपशमिक सम्यक्त्व का लक्षण इस प्रकार है—

खीणंमि उइन्नम्मि अणुदिज्जंते य सेसमिच्छत्ते।
अंतोमुहुत्तमेत्तं उवसमसम्मं लहइ जीवो॥

अर्थात्—उदय में आये हुए मिथ्यात्व का क्षय होने पर तथा शेष मिथ्यात्व के उदय में नहीं आने पर अन्तर्मुहूर्त मात्र के लिए जीव को उपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है।

इस प्रकार क्षायोपशमिक सम्यक्त्व और औपशमिक सम्यक्त्व का लक्षण एकसा मालूम होता है, कोई अन्तर प्रतीत नहीं होता फिर भी इन दोनों दर्शनों को अलग-अलग क्यों कहा गया है?

इस प्रकार की शंका होने पर विचिकित्सा आदि के द्वारा कलुषितता में पड़ कर श्रमण भी कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन करता है।

इस शंका का समाधान इस प्रकार है—क्षयोपशम और उपशम का लक्षण एक नहीं; अलग-अलग है। अतएव इन दोनों से होने वाले सम्यक्त्व भी अलग-अलग हैं।

क्षयोपशम और उपशम में यह भेद है—क्षयोपशम में, उदय में आये का तो क्षय हो जाता है लेकिन जो उदय में नहीं आया है उसका विपाक से उपशम होता है मगर प्रदेश से उपशम नहीं होता। अर्थात् विपाक-अनुभव नहीं होता किन्तु प्रदेश-अनुभव होता है। जैसे क्लोरोफोर्म सुंघा कर चीरा देने से न मालूम होना। विपाक से अनुभव न होता है मगर प्रदेश से वेदना तो होती ही है। इसी प्रकार क्षयोप-शम में विपाक-अनुभव बंद हो जाता है। तथापि प्रदेश-अनु-भव होता है। उपशम-सम्यक्त्व में ऐसा नहीं होता। इसमें विपाक-अनुभव और प्रदेश-अनुभव दोनों ही नहीं होते।

उपशम-सम्यक्त्व में प्रदेश का अनुभव भी नहीं होता है। इसके लिए प्रमाण की आवश्यकता हो तो वह इस प्रकार है—

वेएइ संतकम्मं खओवसमिएसु नाणुभावं सो।
उवसंतकसाओ पुण, वेएइण संतकम्मंति॥

अर्थात्—क्षायोपशमिक भाव में विपाक का वेदन नहीं करता, प्रदेश अनुभव होता है। किन्तु उपशान्त कषाय वाला जीव विपाक-अनुभव और प्रदेश-अनुभव-दोनों का वेदन नहीं करता है।

इसके अतिरिक्त उपशम-सम्यक्त्व की स्थिति अन्तमुहूर्त्त मात्र की है और क्षयोपशम-सम्यक्त्व की छयासठ (६६) सागर की है। इस प्रकार यह दोनों दर्शन भिन्न-भिन्न हैं।

चारित्रान्तर का स्वरूप इस प्रकार है—सामयिक चारित्र और छेदोपस्थापनीय चारित्र अलग-अलग हैं। इनके विषय में यह शंका होती है कि इन दोनों का लक्षण तो एक-सा मालूम होता है फिर इन्हें अलग-अलग क्यों कहा है? सामायिक चारित्र में सर्वसावद्य योग का त्याग और छेदोपस्थापनीय चारित्र में महाव्रत हैं, लेकिन महाव्रत भी सर्वसावद्य योग का त्याग ही हैं। फिर इन दोनों चारित्रों को अलग करने की क्या आवश्यकता थी?

चारित्र के विषय में इस प्रकार की शंका, कांक्षा, विचिकित्सा और कलुषता द्वारा जीव कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन करता है।

चारित्र विषयक शंका का समाधान यह है—वास्तव में तो सामयिक चरित्र ही है लेकिन समय और प्रकृति के भेद से उनमें भेद किया है। पहले तीर्थङ्कर के साधु ऋजु-जड़ थे। उन्हें न समझाना कठिन था और न उन्हें आचरण करने में ही कठिनाई जान पड़ती थी। अन्तिम तीर्थङ्कर के साधु वक्र जड़ हैं। इन्हें समझाना भी कठिन है और आचरण करना भी उनके लिए कठिन है। यह काल का प्रभाव है। इन वक्र जड़ साधुओं को आश्वासन देने के लिए छेदोपस्थापनीय चारित्र बतलाया है, जिससे इनका कल्याण हो सके। कल्पना कीजिए—भारत का एक मनुष्य इंग्लैण्ड गया। भारत गर्म देश है और इंग्लैण्ड शीत प्रधान देश है। वहाँ उसे शीत का सामना करना

पड़ा । इस कारण वह घबरा गया । वह सोचने लगा—भारत में पहने जाने वाले इन वस्त्रों से शीत का सामना कैसे करूं ? इतने में किसी ने उसे आश्वासन दिया—हमने तुम्हारे लिए शीत से बचाने वाले वस्त्रों का प्रबंध कर रक्खा है। इसी प्रकार मध्य के बाईस तीर्थङ्कर के समय के विरुद्ध अन्तिम तीर्थङ्कर का समय जब हुआ तब ज्ञानियों ने आश्वासन दिया कि काल का पलटा देख कर घबराओ मत, हमने छेदोपस्थापनीयचारित्र की स्थापना कर दी है। इस चारित्र से वक्र-जड़ काल तुम्हारा कुछ न बिगाड़ सकेगा।

वक्र-जड़ साधु को पहले सामायिक चारित्र ही दिया जाता है और फिर सात दिन चार मास या छह मास बाद छेदोपस्थापनीय चारित्र यानी महाव्रत पढ़ाये जाते हैं। महाव्रत धारण करने के बाद यदि वक्रजड़ जमाने के प्रभाव से सामायिक में दोष लग भी जावे, तब भी इस विचार से शान्ति होगी कि मेरे महाव्रत सुरक्षित हैं।

अगर ऐसा न किया गया होता, सामयिक चारित्र ही धारण कराया गया होता और महाव्रत रूप छेदोपस्थापनीय चारित्र धारण न कराया जाता, तो वक्रजड़ काल के प्रभाव से सामयिक चारित्र में दोष लग जाने पर साधु यही सोचता कि मेरे सामायिकचारित्र में दोष लगने से मेरा चारित्र ही नष्ट हो गया है। इसलिए आश्वासन दिया कि घबराओ मत। सामा-

यिक चारित्र में दोष लग गया है लेकिन तुम्हारा महाव्रत भंग नहीं हुआ है।

इस प्रकार सामायिक चारित्र और छेदोपस्थापनीय चारित्र को अलग अलग करने का कारण यही है कि सामायिक चारित्र में दोष लग जाने पर भी मुनि एक दम घबरा न जाय। अगर दोष लग भी जाय तो फिर निशीथसूत्र इसी लिए है। छह मास के दण्ड तक तो छेदोपस्थापनीय चारित्र रहता है मगर इससे अधिक का दंड होने पर नष्ट हो जाता है। इस प्रकार काल की विषमता से दो भिन्न-भिन्न चारित्रों की व्यवस्था की गई है।

टीकाकार आचार्य कहते हैं—यह बात मैं अपनी ओर से नहीं कहता; इसके लिए प्रमाण मौजूद हैं। वह इस प्रकार—

रिउवक्कजडा पुरिमेयराणा सामाइए वयारुहणं।
मणयमसुद्धेवि जओ, सामाइए हुंति हु वयाइं॥

अर्थात्—पहले तीर्थङ्कर के साधु ऋजु जड़ और पिछले तीर्थङ्कर के वक्र जड़ होने के कारण छेदोपस्थापनीय चारित्र की स्थापना की है। क्योंकि सामायिक चारित्र में थोड़ा-सा दोष लगने पर भी व्रत रूप चारित्र का निभाव हो जाता है।

कांक्षामोहनीय के वेदन का चौथा कारण लिंगान्तर है। लिंग (वेष) के विषय में यह शंका होती है कि पहले और

अंतिम तीर्थङ्कर के सिवा बीच के बाईस तीर्थङ्करों ने अपने साधुओं के लिए जैसा मिले वैसा ही वस्त्र रखने की आज्ञा दी है। इन तीर्थङ्करों के शासन में वस्त्र सम्बन्धी कोई नियम नहीं था कि काले, पीले, सफेद या गेरुआ रंग के ही वस्त्र पहने जाएं, या कम मूल्य वाले पहने जाएं अथवा अधिक मूल्य वाले पहने जाएं। इन तीर्थङ्करों के साधुओं को जब जैसा वस्त्र मिल जाता था तब तैसा ही पहन लेते थे। यह आदेश भी सर्वज्ञों का था। इस लिंग में भी संयम था। फिर प्रथम और अंतिम तीर्थङ्कर ने वस्त्रों का परिमाण और रंग क्यों नियत किया? अर्थात् यह क्यों कहा कि इतने ही वस्त्र रखना, कम कीमत के रखना और सफेद ही रखना! मध्य के तीर्थ-ङ्करों द्वारा समर्थित वस्त्र वस्त्र मिलने में किसी प्रकार की कठि-नाई नहीं थी। फिर यह नियम बनाकर साधुओं को कठिनाई में क्यों डाला गया? सर्वज्ञों के वचन में इस अन्तर का क्या कारण है? अगर साधु के लिए वस्त्र का परिमाण होना अनि-वार्य है तो बाईस तीर्थङ्करों के साधुओं के लिए क्यों अनि-वार्य न था? क्या वे साधु नहीं थे!

इस प्रकार की शंका होने पर विचिकित्सा और कलुषता द्वारा कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन होता है।

इस शंका का समाधान इस प्रकार है—महावीर और पार्श्व आदि तीर्थङ्करों का सिद्धान्त एक ही है। इनके शासन में वेष का जो अन्तर दीखता है, वह कोई मौलिक सैद्धान्तिक

कि परिमित सफेद वस्त्र भी लिया जा सकता है। इस प्रकार काल की विषमता से लिंग में विशेषता हुई है।

लिंगान्तर के पश्चात् प्रवचनान्तर है। प्रवचन का अर्थ आगम है। वचन दो प्रकार के होते हैं—वचन और प्रवचन। साधारण आदमी के कहे हुए वचन, वचन कहलाते हैं और रागादि शत्रुओं को जीतने वालों के वचन प्रवचन कहलाते हैं। अथवा साधारण लोक व्यवहार संबंधी भाषा को वचन कहते हैं और लोकोत्तर विषय संबंधी वीतरागवाणी प्रवचन कहलाती है। उदाहरणार्थ—एक न्यायाधीश अपने घर में स्त्री-पुत्रों से जो शब्द बोलता है, वे शब्द वचन कहलाते हैं। लेकिन वही न्यायाधीश जब न्यायालय में न्यायासन पर आसीन होता है और वादी-प्रतिवादी की बातें सुनकर निर्णय रूप में जो शब्द बोलता या लिखता है वे फैसला कहलाते हैं। क्योंकि उन शब्दों से वादी-प्रतिवादी का हानि लाभ होता है। इसी प्रकार भगवान ने तत्वों का निचोड़ करके जो आत्महितकारी निर्णय दिये हैं वह प्रवचन कहलाते हैं।

प्रवचन के विषय में इस प्रकार शंका हो सकती है—पार्श्वनाथ आदि तीर्थङ्करों के भी प्रवचन हैं और ऋषभदेव एवं महावीर के भी प्रवचन हैं। सभी तीर्थङ्कर वीतराग और सर्वज्ञ थे। इन प्रवचनों के विषय में शंका यह है कि बीच के बाईस तीर्थङ्करों ने तो चार महाव्रतों का प्रतिपादन किया है और प्रथम एवं चरम तीर्थङ्कर ने पाँच महाव्रतों का उपदेश दिया है।

ह भेद क्यों है ? इन सर्वज्ञों के वचन में विरोध प्रतीत होता , इसीलिए किसे प्रमाण माना जाय ? अगर बीच के तीर्थङ्करों । सर्वज्ञ मानें तो प्रथम और चरम तीर्थङ्कर असर्वज्ञ ठहरते । यदि यह दोनों सर्वज्ञ हैं तो बीच के तीर्थङ्कर सर्वज्ञ नहीं हते । न मालूम क्या सत्य है ?

इस प्रकार शंका होने पर कांक्षा और कलुषता आदि द्वारा ांक्षामोहनीय कर्म का वेदन होता है।

इस शंका का समाधान यह है—बीच के बाईस तीर्थङ्करों । चार व्रत रूप जो धर्म कहा है, वह पाँच व्रत रूप ही समझना चाहिये । इन चार व्रतों में पाँचों व्रत अन्तर्गत हो गये हैं । बीच के तीर्थङ्करों ने संक्षेप में चार व्रत कहे हैं और प्रथम तथा चरम तीर्थङ्कर ने विस्तार से कथन किया अतएव पाँच व्रतों का निर्देश किया । मध्य के बाईस तीर्थङ्करों ने चौथा ब्रह्मचर्य महाव्रत, परिग्रहविरमण व्रत में अन्तर्गत किया है और प्रथम तथा चरम तीर्थङ्कर ने उसे पृथक् रख कर अलग नाम दिया है।

बाईस तीर्थङ्करों ने मैथुन विरमण को परिग्रहविरमण से अलग नहीं बतलाया है, क्योंकि—

योषा हि नाऽपरिगृहीता भुज्यते ।

अर्थात्-अपरिगृहीत बिना ग्रहण की हुई अर्थात् जिस स्त्री को स्वीकार नहीं किया है वह भोगी नहीं जाती । परिगृहीता स्त्री ही भोगी जाती है।

मतलब यह है कि चार व्रतों की स्थापना करने वालों ने परिग्रह का निषेध किया है और उसी में स्त्री का भी निषेध हो जाता है। इसलिए स्त्री का त्याग रूप व्रत अलग नहीं बतलाया है। इस दृष्टि से सोचने पर तीर्थङ्करों के प्रवचन में किसी प्रकार का विरोध नहीं आता। विरोध उस हालत में होता जब चार व्रतों की स्थापना करने वाले तीर्थङ्कर स्त्री संसर्ग का अनुमोदन करते। मगर ऐसा नहीं है। अतएव विरोध की गुंजाइश नहीं है।

यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि जब परिग्रह में स्त्री का समावेश हो जाता है और परिग्रह का त्याग बतला दिया था तो फिर मैथुन त्याग को अलग बताने की क्या आवश्यकता थी? इसका उत्तर यह है कि अब वक्र और जड़ जमाना आया है। कदाचित कोई यह भी कुतर्क करने लगे कि बिना ममत्व आसक्ति के स्त्री संसर्ग करने में क्या हर्ज है? ऐसी कुतर्कणाओं को दूर करने के लिए मैथुन त्याग व्रत अलग बतला दिया गया है।

पहले और अन्तिम तीर्थंकर के समय में पाखण्ड बहुत फैला था। सूयगडांग सूत्र में उस समय के पाखण्ड मत का वर्णन करते हुए कहा है:—

इस प्रकार का पाखण्डमत फैल रहा था। यह दोष जैन धर्म में भी न आजावे, इसके लिए स्त्री त्याग व्रत को अलग

बना दिया है। जब लोग सरल बुद्धि और प्राज्ञ थे, तब चार महाव्रतों से ही मैथुन का त्याग हो जाता था। जब लोग वक्रबुद्धि और जड़मति होने लगे तो पाँच महाव्रत बतलाये गये। यह कोई वास्तविक मतभेद नहीं है।

प्रवचन का अध्ययन करने वाला अर्थात् जो कालानुसार बहुश्रुत हो वह प्रावचनिक कहलाता है। पहले समय में बहुसूत्री पुरुष पूर्वधारी भी होते थे लेकिन यह बात सदा के लिए नहीं है। समय के अनुसार बहुत श्रुतों का ज्ञाता ही उस समय बहुश्रुत कहलाता है।

बहुश्रुत पुरुषों में मतभेद देखकर शंका में पड़ जाने से कलुषता आदि दोष उत्पन्न होते हैं और इस प्रकार कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन होता है।

चारित्रमोहनीय कर्म के क्षयोपशम की विचित्रता के कारण बहुसूत्री पुरुषों में मतभेद हो जाता है। किसी का क्षयोपशम विशेष निर्मल होता है, किसी का उतना निर्मल नहीं होता। इस कारण चारित्र में भेद पड़ जाता है। इसके अतिरिक्त उत्सर्ग और अपवाद, यह दो मार्ग हैं। इन दो मार्गों के कारण भी बहुसूत्री पुरुषों की स्थापना में भिन्नता आ जाती है।

प्रश्न हो सकता है कि इन दोनों की स्थापना में कौनसी स्थापना प्रमाण मानी जाय? इस प्रश्न का समाधान यह है

कि दोनों में से किसी पक्ष को आग्रह से ही प्रमाण मानना उचित नहीं है। दोनों की व्याख्या को आगम से मिला कर देखना चाहिए। जो आगमानुसार हो उसे ही प्रमाण समझना चाहिए।

उत्सर्ग और अपवाद शास्त्रानुमोदित मार्ग हैं। उत्सर्ग मार्ग में साधु नदी का पानी छूता भी नहीं है लेकिन अपवाद मार्ग में नदी उतरता भी है। दो साधुओं में से एक साधु नहीं उतरा और दूसरा आवश्यकता समझ कर अपवाद मार्ग का आश्रय लेकर नदी उतरा। एक तीसरा देखने वाला आदमी इन दोनों का भिन्न आचरण देखकर चक्कर में पड़ गया। उसने सोचा—इन दोनों में से किसका व्यवहार ठीक समझना चाहिए? निर्णय करने के लिए उसने आगम देखा। दशवैकालिकसूत्र में साधु को कच्चे पानी का स्पर्श करने का निषेध किया गया है, किन्तु आचारांगसूत्र में अपवाद रूप से नदी उतरने का कथन पाया जाता है। अतएव दोनों का ही व्यवहार शास्त्र से विपरीत नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार आगम की कसौटी पर कसने से जिस बहुश्रुत पुरुष का कथन आगम के अनुकूल हो वह ठीक है। जिसका कथन आगम से प्रतिकूल हो वह मान्य नहीं हो सकता।

किन्तु अपवाद या उत्सर्ग का नाम लेकर कोई मनचाहा सिद्धान्त प्रचलित करना चाहे तो वह अनुमोदनीय नहीं है। आगम ही इस विषय में अभ्रान्त कसौटी है। इस काल

आगम ही अंतिम निर्णायक है। आगम से जो विधान प्रतिकूल है वह न उत्सर्ग है, न अपवाद है। उदाहरणार्थ--अगर कोई यह स्थापना करे कि उत्सर्ग मार्ग में साधु को स्त्री संसर्ग करना निषिद्ध है लेकिन अपवाद मार्ग में हर्ज नहीं है। ऐसी स्थापना के लिए स्थापना करने वाले से पूछना चाहिए कि किस आगम के आधार पर ऐसी प्ररूपणा की जाती है? अगर तुम्हारी स्थापना को आगम का आधार नहीं है तो वह मान्य नहीं हो सकती।

सारांश यह है कि प्रावचनिकों में मतभेद देखकर किसी प्रकार की शंका नहीं करना चाहिए किन्तु आगम में प्रमाण देखकर निर्णय कर लेना चाहिए कि किसका कथन ठीक है। जो अपनी बात के लिए आगम का प्रमाण बतलावे उसकी बात मानने योग्य है। जो न बतलावे उससे स्पष्ट कहना चाहिए कि आगम-प्रमाण के अभाव में हमें यह बात मान्य नहीं है।

कई बातें ऐसी होती हैं जिनके संबंध में आगम में स्पष्ट उल्लेख नहीं पाया जाता। इसके लिए भगवतीसूत्र में और व्यवहारसूत्र में पाँच व्यवहार बतलाये हैं। जब आगम व्यवहार चलता हो, दशपूर्वधारी तक मुनि विचरते हों, तब उनकी आज्ञा मान्य है। दशपूर्वधारियों के अभाव में, सूत्रों में जो लिखा हो वह मान्य होता है। कोई अपनी परम्परा की समाचारी का आग्रह करे तो सूत्र की बात के विरुद्ध [illegible]

[illegible] नहीं [illegible]। [illegible] में कोई [illegible] [illegible] को [illegible] मानना चाहिए। [illegible] भी न हो तो [illegible] को मानना चाहिए। धारणा भी न हो तो लोक और लोकोत्तर व्यवहार [illegible] जिन-आचार, जिसकी व्याख्या बहुत आचार्यों ने की है, मान्य है। यह जिन-आचार भी भगवान् की आज्ञा में है।

प्रावचनिक के आगे कल्पान्तर की बात आती है। कोई मुनि जिनकल्पी और कोई स्थविर कल्पी है। दोनों के आचार में अन्तर भी है। इन दोनों के कल्प देखकर शंका हो जाती और कांक्षा, विचिकित्सा, कलुषता आदि द्वारा कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन होता है।

कल्प के विषय में शंका इस प्रकार होती है—जिनकल्पी मुनि नग्न रहते हैं। नग्न रहने में बड़ा कष्ट होता है। उनके कल्प में यह कष्ट सहन कर्म क्षय के लिए है। इस पर शंका होती है कि नग्न रहकर कष्ट सहन करना ही अगर कर्मक्षय का कारण है तो स्थवीर कल्पी मुनि वस्त्र-पात्र आदि का परिभोग करते हैं, इन्हें जिनकल्पी की भाँति कष्ट नहीं होता, फिर इनका कल्प कर्मक्षय का कारण किस प्रकार हो सकता है? अगर स्थविरकल्प भी कर्मक्षय का कारण है तो फिर नग्न रहने का उपदेश क्यों दिया गया है?

ऐसा नहीं किया। पहले श्रावक ने सोचा—किसी
भूखे मारना भगवान की आज्ञा में नहीं है।
ना होगा उतना प्रतिक्रमण आदि करूँगा, लेकिन
भूखा नहीं मारूंगा।

समय दोनों श्रावक साधु के पास पहुंचे। दोनों ने
विचार साधु के सामने उपस्थित किये और पूछा
कौन आराधक है और कौन विराधक है? साधु यह
भगवान ने श्रावक के स्थूल प्राणातिपातविरमण
विचार बतलाये हैं। यह व्रत मूलगुण है। बिना
गुण ठीक नहीं रहता। श्रावक के बारह
गुण हैं, तीन गुणव्रत हैं और चार शिक्षा-
को छोड़देना और उत्तर गुण को ले बैठना

—पहला व्रत मूलगुण है। भगवान ने आनन्द
व्रत की ... बताएँ बतलाकर कहा
का उलंघन ... व्रत का नाश हो जाता
हैं—बं... छविच्छेद, अतिभारारोपण
... को भात पानी न देने
जिसने अपने आश्रित
करके पोषा ...
हुई। ...

कि [illegible] है [illegible] [illegible] [illegible] सकता कि वह मूल गुण महाव्रत का पालन नहीं करता है। बल्कि ऐसा भी होता है कि आहार-पानी करने वाले उसी भव में मोक्ष चले जाते और [illegible] करने वाले उसी भव में [illegible] करके मोक्ष को चले जाते हैं। इसके अतिरिक्त जिस मुनि पर संघ तथा धर्म की सेवा का भार है, वह यदि भोजन न करेगा तो उसका काम कैसे हो सकेगा? उसके लिए तो अन्न खाकर वैयावृत्य करना ही उचित है। अगर वह ऐसा नहीं करता तो भगवान की आज्ञानुसार वह आराधक नहीं होता, बल्कि कृतघ्न और महामोहनीय कर्म बांधने वाला है। जो मुनि तपस्या का नाम लेकर बैठ जाता है और अपनी जिम्मेदारी की वैयावृत्य नहीं करता उसे भगवान ने आराधक नहीं कहा है।

कल्पना कीजिए संवत्सरी के दिन दो श्रावकों में से एक ने विचार किया—'आज मुझे पोसा (पौषधोपवास) करना था, लेकिन मेरे जिम्मे पशुओं को घास पानी देना है। अगर मैं उन्हें घास-पानी न दूंगा तो वह भूखे रहेंगे। दूसरे श्रावक ने सोचा—'आज मैं भूखा रहूंगा और इसी प्रकार मेरे संरक्षण के पशु भी भूखे रह जाएँगे। उन्हें भी निर्जरा धर्म की प्राप्ति होगी। इस प्रकार विचार कर दूसरे श्रावक ने पोसा किया

ोर उसने पोसा नहीं किया। पहले श्रावक ने सोचा—किसी ोर को भूखे मारना भगवान की आज्ञा में नहीं है। ससे जितना होगा उतना प्रतिक्रमण आदि करूँगा, लेकिन शुओं को भूखा नहीं मारूंगा।

संध्या समय दोनों श्रावक साधु के पास पहुंचे। दोन ने पने-अपने विचार साधु के सामने उपस्थित किये और पूछा म दोनों में कौन आराधक है और कौन विराधक है? साधु यह त्तर देंगे—भगवान ने श्रावक के स्थूल प्राणातिपातविरमण त के पाँच अतिचार बतलाये हैं। यह व्रत मूलगुण है। बिना मूलगुण के उत्तर गुण ठीक नहीं रहता। श्रावक के बारह व्रतों में पाँच मूल गुण हैं, तीन गुणव्रत हैं और चार शिक्षा-व्रत हैं। मूल गुण को छोड़देना और उत्तर गुण को ले बैठना ठीक नहीं है।

साधु ने कहा—पहला व्रत मूलगुण है। भगवान ने आनन्द श्रावक से इस पहले व्रत की पाँच मर्यादाएँ बतलाकर कहा है—इन मर्यादाओं का उलंघन करने से व्रत का नाश हो जाता है। वह मर्यादाएँ हैं—बंध, वध, छविच्छेद, अतिभारारोपण और भक्तपान-विच्छेद। अपने आश्रित को भात पानी न देने से श्रावक को अतिचार लगता है। जिसने अपने आश्रित पशुओं के भोजन-पानी की उपेक्षा करके पोषा किया, भात-पानी न देने के कारण उसे हिंसा हुई। उसके मूल गुण को

भंग हो गया। जिसने अपनी जवाबदारी का काम करके अपने आश्रित पशुओं को भोजन पानी दिया है और पोषा नहीं किया है, उसने अपने मूलव्रत का पालन किया है। पोषा न करने से पहले व्रत में अतिचार नहीं लगता, वरन् भोजन-पानी न देने पर अतिचार लगता है। अतएव पहला श्रावक आराधक है और दूसरा विराधक है। करुणाभाव उठ जाने पर फिर कोई धर्म नहीं ठहरता।

मतलब यह है कि कर्म का क्षय कष्ट सहने और कष्ट न सहने मात्र से ही नहीं होता। कष्ट सहन के लिए अपनी शक्ति का और संघ की शक्ति का विचार न करना भगवान का मार्ग नहीं है। निर्ग्रन्थपन मूलगुण है और कष्ट सहना उत्तरगुण है। जैनधर्म यह नहीं कहता कि कोई काम अपनी शक्ति से अधिक करो। इस प्रकार दोनों कल्पों का लक्ष्य एक ही है। कल्पभेद से शंका, कांक्षा आदि में न पड़कर जिनदेव की मूल आज्ञा का विचार करना चाहिए।

कल्पान्तर के पश्चात् मार्गान्तर है। मार्ग का अर्थ है— परम्परा से चली आती हुई समाचारी-पद्धति। उस समाचारी में किसी की समाचारी दो चैत्यवंदन और अनेक प्रकार के कायोत्सर्ग रूप है और किसी की समाचारी ऐसी नहीं है। आजकल भी कोई पक्खी के दिन बारह 'लोगस्स' गिनकर कायोत्सर्ग प्रतिक्रमण करता है कोई कम 'लोगस्स' गिनकर।

त प्रकार का अन्तर देखकर शंका हो जाती है कि न मालूम कौन-सी समाचारी सच्ची है ? और न जाने किस समाचारी से मोक्ष होता है ? इस प्रकार की शंका होने से कांक्षा, विचिकित्सा और कलुषता द्वारा मोहनीय कर्म का वेदन होता है।

यहाँ पर 'चैत्यवन्दन' का जो उल्लेख किया गया है, उसे देखकर कई लोग हठ करके कहते हैं कि मूर्तिवन्दन ही चैत्यवन्दन है। लेकिन यह बात ठीक नहीं है। ऐसा कहने वालों के माने हुए आचार्यों द्वारा ही इसका खंडन हो जाता है। उनके आचार्यों द्वारा रचे हुए चैत्य वन्दन के भाष्य में लिखा है कि तीन बार नमस्कार मंत्र का जाप करना चैत्यवन्दन कहलाता है।

आवश्यक समाचारी के अन्तर्गत आये हुए चैत्यवन्दन का अर्थ अगर मूर्तिवन्दन ही होता हो तो फिर कहना होगा कि प्रत्येक साधु को अपने साथ एक-एक मूर्ति भी रखनी चाहिए। अतएव चैत्यवन्दन का अर्थ, मूर्तिवन्दन करना ठीक नहीं है। 'लोगस्स' का ध्यान करना ही उपयुक्त अर्थ है और यही समाचारी में है भी।

मार्गान्तर विषयक शंका का समाधान यह है कि सब की समाचारी ठीक है। क्योंकि समाचारी के प्रवर्त्तक, गितार्थ और सरल हैं तथा सब समाचारियाँ आचरित लक्षण से युक्त हैं। आचरित लक्षण का आशय बतलाने के लिए कहा गया है कि—

व्याख्यान

यहां सर्व प्रथम गौतम स्वामी ने कर्मप्रकृतियों की संख्या के सम्बन्ध में प्रश्न किया है। भगवान ने उत्तर में आठ प्रकृतियाँ बतलाई हैं।

कर्म के विषय में पहले कहा जा चुका है। व्याकरण के अनुसार कर्त्ता, जिसके साथ क्रिया-रूप व्यापार करता है उसे कर्म कहते हैं। जैसे 'देवदत्त चावल पका रहा है।' इस वाक्य में पकाने की क्रिया चावल के साथ की जाती है, इसलिए यहाँ चावल कर्म है और देवदत्त कर्त्ता है। व्याकरण के अनुसार दो प्रकार की क्रिया होती है—सकर्मक और अकर्मक जिस क्रिया का कोई कर्म हो वह सकर्मक कहलाती है। जैसे पूर्वोक्त पकाने की क्रिया। जिस क्रिया में कर्म नहीं होता वह अकर्मक कहलाती है। जैसे—देवदत्त सोता है। इस वाक्य में कर्म नहीं है, यहाँ कर्त्ता के साथ ही क्रिया का व्यापार है। कर्म पृथक् नहीं है। गीता में कहा है—

कर्मण्ये वाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।

यहाँ कर्त्ता द्वारा होने वाली क्रिया को ही कर्म शब्द से कहा गया है।

यद्यपि व्याकरण और गीता के इस वाक्य में कर्म का जो अर्थ लिया गया है, उसे मानने में कोई आपत्ति नहीं है तथापि

इस प्रकरण में कर्म का अर्थ दूसरा है। सम्पूर्ण चौदह राजू लोक में कार्माण वर्गणा के परमाणु भरे हुए हैं। आत्मा अपने अध्यवसाय से खींच कर उन्हें अपने साथ बद्ध करता है। तब उनकी कर्म संज्ञा होती है। मदिरा पुद्गल-परमाणुओं का समूह है। जड़ है। उसमें पीने वाले को नशा लाने का धर्म है। नशा, मदीरा पीने पर होता है, नहीं पीने पर नहीं होता। मनुष्य को जब मदीरा पीने की इच्छा होती है, तभी वह पीता है और जब पीता है तभी मदिरा का धर्म पीने वाले पर आता है। इसी प्रकार कर्म-वर्गणा के परमाणु लोक में सब जगह भरे हैं। मिथ्यात्व आदि कारणों से जीव उन परमाणुओं को अपनी ओर खींचता है और दूध-पानी की तरह एकमेक कर लेता है। जब जीव उन्हें अपने साथ मिला लेता है तब जिस प्रकृति का जो धर्म है, उसीके अनुसार वह उस जीव को फल देने लगती है।

प्रकृति का अर्थ है—स्वभाव। जैसे मदीरा के परमाणु नशा देते हैं, इमली खट्टापन देती है, शकर मिठास देती है, यह इन पुद्गलों का स्वभाव है। इसी प्रकार कर्म की प्रकृतियों के विषय में समझना चाहिए। कर्म की कोई प्रकृति ज्ञान को आच्छादित करती है, उसका नाम ज्ञानावरणीय है। कोई प्रकृति दर्शन को ढंकती है, वह दर्शनावरणीय कहलाती है। इस प्रकार मूल प्रकृतियाँ आठ हैं और उनके कार्य भी भिन्न-भिन्न हैं।

गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में भगवान फर्माते हैं—गौतम ! मूल प्रकृतियाँ आठ हैं। इनका विशेष वर्णन प्रज्ञापना सूत्र के कर्म प्रकृति नामक तेईसवें पद के पहले उद्देशक में है।

प्रज्ञापना सूत्र में प्रकृतियों का जो वर्णन किया गया है, उसका संक्षेप इस प्रकार है—

उक्त सूत्र में पहले प्रश्न किया गया है—भगवन् ! कर्म प्रकृतियाँ कितनी हैं ?

भगवान ने फर्माया—गौतम ! आठ कर्म प्रकृतियाँ हैं।

यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि कर्म, आत्मा को लगते कैसे हैं ? कर्म जड़ हैं, उन्हें कुछ ज्ञान नहीं है। वे स्वयं आकर आत्मा को लग नहीं सकते। इसके सिवाय कर्म रूपी हैं और आत्मा अरूपी है। अरूपी के साथ रूपी का सम्बन्ध किस प्रकार होता है ?

इस बात को दृष्टि में रखकर गौतम स्वामी फिर पूछते हैं—भगवन् ! जीव, कर्म प्रकृतियाँ कैसे बाँधता है ?

भगवान फर्माते हैं—गौतम ! कर्म ही कर्म को बाँधता है। जिसमें कर्म है उसीको कर्म बंध होता है। जिसके कर्म नहीं हैं, उसे नहीं बँधते।

इस पर यह शंका होती है कि जीव अगर स्वभाव से अकर्मा और अकर्मा है, तो कभी न कभी कर्म बंध का आरंभ

]

होगा। उस समय अकर्मा (अरूपी) होने पर भी जीव के
जड़ रूपी कर्म का बंध कैसे हुआ ?

इसका समाधान यह है कि कर्मबंध, आत्मा को अनादि-
ल से होता आया है। यद्यपि प्रत्येक बंधने वाले कर्म की
ादि है, मगर कर्म के प्रवाह की आदि नहीं है। प्रवाह रूप में
र्मबंध अनादिकालीन है। इस विषय में आगम प्रमाण है हो
मगर प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण भी है। आत्मा प्रत्यक्ष
प्रमाण (स्वसंवेदन) से सिद्ध है। भले ही आँखों से आत्मा
दिखलाई न दे, फिर भी यह जो बोलने वाला, खट्टा-मीठा
बताने वाला और आत्मा का निषेध करने वाला है, वही
आत्मा है। जिसे 'मैं' और 'तेरा' इस प्रकार का ज्ञान होता है
वही आत्मा है। सुख दुःख का अनुभव आत्मा ही करता है।
इस प्रकार जब आत्मा है तो यह देखना चाहिए कि आत्मा
स्वतंत्र है या परतंत्र है ? आत्मा की अनेक शक्तियाँ रुकावट में
पड़ी हैं। अगर रुकावट न होती तो दीवार के दूसरी ओर की
बात क्यों न जानी जाती ? इससे यह मालूम होता है कि
आत्मा में शक्ति तो है मगर रुकी हुई है। इस रुकावट को ही
शास्त्रकार 'कर्म' कहते हैं।

आत्मा के साथ कर्म कब से लगे हैं, इसके सम्बन्ध में कहा
जा चुका है कि अनादिकाल से ही कर्म आत्मा के साथ लगे
हुए हैं। कर्मों के संयोग से आत्मा अनादिकाल से ही, स्वभाव
से अमूर्त्तिक होते हुए भी मूर्तिक हो रहा है। इसीलिए अरूपी

के साथ रूपी कर्मों का संबंध कैसे हुआ ? इस प्रश्न का स
धान हो जाता है । तात्पर्य यह है कि संसारी आत्मा रू
और उसीको कर्म लगते हैं; अतः आत्मा और कर्म का सं
रूपी और अरूपी का संबंध नहीं है वरन् रूपी का रू
साथ संबंध है ।

कदाचित् यह कहा जाय कि आत्मा सच्चिदानन्द था प
कर्म आत्मा के साथ आ लगे । तो यह प्रश्न उपस्थित होत
कि आत्मा के किये बिना कर्म कैसे आ लगे ? अगर बिना
कर्म लगने लगें तो बड़ी गड़बड़ी होगी । अतएव यह क
ही ठीक है कि आत्मा कर्म का कर्त्ता है और अनादिका
वह कर्मों को उपार्जन कर रहा है । हाँ; यह अवश्य है कि
भी एक कर्म अनादिकालीन नहीं है और न अनन्तकाल
आत्मा के साथ रह सकता है । मगर एक के बाद एक दू
और दूसरे के साथ तीसरा इस प्रकार कर्म नदी के
प्रवाह के समान आते जाते रहते हैं ।

अब प्रश्न यह है कि आत्मा ने किस कारण से कर्म
हैं ? इसके संबंध में भगवान फर्माते हैं--हे गौतम ! ज्ञाना
णीय कर्म जो आत्मा ने पहले उपार्जन किया है उसके
पर दर्शनावरणीय कर्म भी उदय होता है । जब दर्शनावर
कर्म उदय आता है तो दर्शनमोहनीय कर्म अनुभव में आ
है । दर्शनमोहनीय कर्म के उदय से जीव मिथ्यात्व को

करता है। इस प्रकार जीव आठ प्रकार की कर्म प्रकृतियाँ बाँधता है।

लेकिन यह ध्यान में रखना चाहिए कि कर्म प्रकृतियों के बंध का जो क्रम बतलाया है वह बोलने में है। कर्म प्रकृतियों का बंध तो अनादि काल से होता आया है। सारांश यह है कि कर्म के आकर्षण से ही कर्म आते हैं। तेल के चिकने घड़े के ऊपर धूल लगती है। धूल को यह ज्ञान नहीं है कि मैं कहाँ लग रही हूं लेकिन घड़े में चिकनापन है अतएव धूल लगती ही है। इसी प्रकार आत्मा यद्यपि स्वभाव से शुद्ध है लेकिन कर्म के लगने से उसमें चिकनापन आगया है और उस चिकनेपन से कर्म चिपकते हैं।

प्रज्ञापनासूत्र में, इससे आगे गौतम स्वामी पूछते हैं— भगवन् ! जीव कितने स्थानों द्वारा ज्ञानावरणीय कर्म बाँधता है ? इसके उत्तर में भगवान ने फर्माया दो स्थानों द्वारा—राग द्वारा और द्वेष द्वारा।

तत्पश्चात् वेदना के विषय में प्रश्न किया गया है— भगवन् ! जीव कितनी प्रकार की कर्म प्रकृतियाँ वेदता है ? इसका उत्तर इस प्रकार दिया गया है—गौतम ! जीव कई कर्म प्रकृतियाँ वेदता है और कई नहीं वेदता है। वे आठ कर्म प्रकृतियाँ हैं। कोई जीव कम प्रकृतियाँ वेदता है, कोई ज्यादा।

गौतम स्वामी फिर पूछते हैं—भगवन् ! जीव ज्ञानावरणीय कर्म वेदता है ? उत्तर में भगवान फर्माते हैं—हे गौतम ! कोई जीव वेदता है, कोई नहीं वेदता । केवली ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय कर चुके हैं इसलिए वे नहीं वेदते ।

गौतम स्वामी प्रश्न करते हैं—भगवन् ! नैरयिक ज्ञानावरणीय कर्म वेदते हैं ? भगवान उत्तर देते हैं—गौतम ! नारक जीव ज्ञानावरणीय कर्म अवश्य वेदते हैं ।

गौतम स्वामी प्रश्न करते हैं—भगवन् ! कर्म का रस कितने प्रकार का होता है ? भगवान ने फर्माया—गौतम ! दस प्रकार है—श्रोत्र आदि पाँच द्रव्येन्द्रियों का आवरण होता है और श्रोत्रज्ञान आदि रूप पाँच भावेन्द्रियों का भी ।

कर्म प्रकृतियों के सम्बन्ध में प्रज्ञापना सूत्र में जो वर्णन किया गया है और जिसका उल्लेख यहाँ किया गया है, उस का संक्षिप्त सार यही है ।



उपस्थान-परलोक की क्रिया

मूलपाठ—

प्रश्न—जीवे णं भंते ! मोहणिज्जेणं कडेणं कम्मेणं उदिएणेणं उवट्ठाइज्जा ?

उत्तर—हंता उवट्ठाएज्जा ।

प्रश्न—से भंते ! किं वीरियत्ताए उवट्ठाएज्जा, अवीरियत्ताए उवट्ठाएज्जा ?

उत्तर—गोयमा ! वीरियत्ताए उवट्ठाएज्जा, णो अवीरियत्ताए उवट्ठाएज्जा ।

प्रश्न—जइ वीरियत्ताए उवट्ठाएज्जा, किं बालवीरियत्ताए उवट्ठाएज्जा, पंडियवीरियत्ताए उवट्ठाएज्जा, बालपंडियवीरियत्ताए उवट्ठाएज्जा ?

उत्तर—गोयमा ! बालवीरियत्ताए उवट्ठाएज्जा, णो पंडियवीरियत्ताए उवट्ठाएज्जा, णो बालपंडियवीरियत्ताए उवट्ठाएज्जा ?

संस्कृत - छाया

प्रश्न—जीवो भगवन् ! मोहनीयेन कृतेन कर्मणा उदीर्णेनोपतिष्ठेत् ?

उत्तर—हन्त, उपतिष्ठेत् ।

प्रश्न—तद् भगवन् ! किं वीर्यतयोपतिष्ठेत्, अवीर्यतयोपतिष्ठेत् ?

उत्तर—गौतम ! वीर्यतयोपातिष्ठेत्, नो अवीर्यतयोपतिष्ठेत्।

प्रश्न—यदि वीर्यतयोपातिष्टेत्, किं बालवीर्यतयोपतिष्ठेत्, पण्डितवीर्यतयोपतिष्ठेत्, बालपण्डितवीर्यतयोपतिष्टेत् ?

उत्तर—गौतम ! बालवीर्यतयोपातिष्टेत्, नो पण्डितवीर्यतयोपतिष्टेत्, नो बालपण्डितवीर्यतयोपतिष्टेत् ।

शब्दार्थ—

प्रश्न—भगवन् ! जब मोहनीय कर्म उदय में आया हो तब जीव उपस्थान—परलोक की क्रिया करता है ?

उत्तर—हाँ, गौतम ! उपस्थान करता है।

प्रश्न—भगवन् ! जीव वीर्य से उपस्थान करता है या अवीर्य से ?

उत्तर—गौतम ! वीर्य से उपस्थान करता है, अवीर्य से नहीं करता।

प्रश्न—भगवन् ! अगर वीर्य से उपस्थान होता है तो क्या बालवीर्य से होता है, पंडितवीर्य से होता है या बालपंडितवीर्य से होता है ?

उत्तर—गौतम ! उपस्थान बालवीर्य से होता है, किन्तु पंडितवीर्य से अथवा बालपंडित वीर्य से नहीं होता।

व्याख्यान

कर्म प्रकृतियों के विषय में सामान्य रूप से विचार करने के पश्चात् मोहनीयकर्म के विषय में विचार किया गया है। गौतम स्वामी विशेष रूप से मोहनीयकर्म की बात पूछते हैं।

गौतम स्वामी के प्रश्न पूछने का अभिप्राय यह है कि संसार में अज्ञान और ज्ञान—दोनों की क्रिया देखी जाती है अज्ञान के वश होकर के भी आत्मा महान् से महान् और

से [illegible] है और [illegible] भी [illegible]
लेकिन [illegible] को भिन्न भिन्न [illegible] होती है, [illegible]
जानने के लिए गौतम स्वामी निम्नलिखित प्रश्न करते हैं।
इस प्रश्नोत्तर से उन लोगों का [illegible] भी [illegible] हो जाता है
जो मिथ्यात्वी की क्रिया को भगवान की आज्ञा में मानते हैं।

गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवन् ! जीव ने जो मोहनीय कर्म किया है वह जब उदय में आया तो [illegible] जीव परलोक के लिए क्रिया करता है ?

यहाँ मोहनीय कर्म का अर्थ सामान्यतया मोहनीय कर्म नहीं किन्तु मिथ्यात्वमोहनीय कर्म की विवक्षा कर के ही यह प्रश्न किया है कि—मिथ्यात्व मोहनीय कर्म का उदय होने पर जीव परलोक साधन के लिए की जाने वाली क्रिया करता है! क्रिया को स्वीकार करता है ?

परलोक साधन के लिए कई अज्ञानी भी परिश्रम करते हैं तथा मोक्ष चाहते हैं। मोक्ष प्राप्ति के उद्देश्य से वे ऐसी उग्र क्रिया करते हैं कि देखने वाले चकित रह जाते हैं। अतएव गौतम स्वामी यह प्रश्न करते हैं कि—अज्ञानी जीव मिथ्यात्व के उदय से ऐसी क्रिया करता है या अनुदय से ?

गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में भगवान फर्माते हैं—हाँ गौतम ! मिथ्यात्व का उदय होने पर भी जीव ऐसी क्रिया करता है।

शंका—मासखमण आदि तप क्रिया क्षयोपशम भाव से होती है और शास्त्र कहता है कि मिथ्यात्व मोहनीय कर्म से ही पैदा होता है। यह बात समझ में नहीं आती। इस परस्पर विरोधी बात का समाधान क्या है?

समाधान—इस प्रकार की शंका के कारण कइयों ने (श्वे० तेरह पंथियों ने) तो मिथ्यादृष्टि की क्रिया आज्ञा में ही मान ली है। लेकिन मिथ्यादृष्टि की क्रिया यदि आज्ञा में होती तो वह मिथ्यात्वमोहनीय के उदय से की गई क्यों मानी जाती? जो वस्तु जैसी है, उसे वैसी न समझकर उल्टी समझना मिथ्यात्व कहलाता है। जब मिथ्यात्वी की समझ ही उल्टी है तो उसकी क्रिया उल्टी क्यों नहीं होगी? और उल्टी मिथ्या क्रिया भगवान की आज्ञा में किस प्रकार हो सकती है? मान लीजिए तीन पुरुष हैं। एक उद्योग करता है, दूसरा उद्योग नहीं करता और तीसरा मूर्खतापूर्वक विपरीत उद्योग करता है। मिथ्यादृष्टि की क्रिया इनमें से तीसरे प्रकार के उद्योग के समान है। तीसरे प्रकार का उद्योग करने की अपेक्षा उद्योग न करना बुरा नहीं है। इसी कारण मिथ्यादृष्टि की विपरीत क्रिया आज्ञा में नहीं है।

मिथ्यादृष्टि, मिथ्यात्व के उदय से विपरीत क्रिया करता है। उससे अगर सम्यक् प्रकार से क्रिया करने को कहा जाय तो वह नहीं करता और उससे विपरीत ही करता है। वह सच्चे उपदेश को नहीं मानता। ढोंग, धतिंग की बात उसे

पसंद आती है। सत्य के संबंध में प्रमादी रहता है और विप-
रीत बात के लिए अपना तन, मन, धन भी दे देता है। मिथ्या
दृष्टि की ऐसी परिणति देखकर ज्ञानियों ने कहा है--मिथ्यात्व
के उदय से विपरीत श्रद्धा होती है, सत् श्रद्धा नहीं होती।

व्यवहार में देखिए कि जिस काम को आप सच्चा और
ठीक समझते हैं, उसमें कितना परिश्रम करते हैं और जिसे
हानि रूप समझते हैं उसमें कितना परिश्रम करते हैं? विवाह
और मृत्युभोज आदि में खर्च करके भी कितना कष्ट सहते हैं!
कोई न करने का उपदेश देता है तब भी नहीं मानते। यह मोह
का उदय है। जब सम्यग्दृष्टि को भी मोह ऐसा बना देता है,
तो मिथ्यादृष्टियों का क्या कहना है।

गौतम स्वामी फिर प्रश्न करते हैं--हे भगवन्! मोहनीय
कर्म का उदय होने पर भी जीव परलोक की क्रिया करता है,
तो वह उपस्थान-परलोक की क्रिया वीर्य के कारण होती है या
अवीर्य के कारण?

इस प्रश्न का अभिप्राय यह है कि जब मोहनीय कर्म के
उदय से परलोक की क्रिया करता है तो उसमें पुरुषार्थ की
क्या आवश्यकता है? लेकिन भगवान फर्माते हैं-बिना पुरुषार्थ
के तो कोई काम होता ही नहीं है।

भगवान ने इसीलिए उत्तर दिया--गौतम! वह उपस्थान
वीर्य से होता है, अवीर्य से नहीं होता।

वीर्य का योग होने से प्राणी भी वीर्य कहलाता है। जैसे धन योग से मनुष्य धनिक कहलाता है, उसी प्रकार वीर्य के योग से वीर्य कहलाता है।

मोह कर्म का उदय होने पर भी क्रिया की जाती है मगर उस क्रिया का कर्त्ता जीव ही है, कर्म नहीं। उस प्राणी के प्राणीपन को वीर्यता (वीर्यत्व) कहते हैं और उस वीर्यता द्वारा ही वह परलोक साधन की क्रिया करता है।

वीर्यता का दूसरा अर्थ पराक्रम है और जिसमें पराक्रम हो उसे वीर्य (वीर्यत्व) कहते हैं।

गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में भगवान फर्माते हैं--हे गौतम! मोहनीय कर्म के उदय से परलोक की क्रिया करने वाला वीर्यता से परलोक की क्रिया करता है, अवीर्यता से नहीं करता। वह स्वपराक्रम से क्रिया करता है, इसीसे उसका फल भी भोगता है।

अगर परलोक की क्रिया करने वाला जीव न माना जाय, कर्म को ही कर्त्ता माना जाय तो उस क्रिया का फल किसे होगा? इसके अतिरिक्त जिन कर्मों को परलोक की क्रिया करने वाले कहोगे वे कर्म किसके किये हुये हैं? इसलिए आत्मा स्वयं ही कर्त्ता है, यह मानना ही ठीक होगा।

वीर्य तीन प्रकार का होता है--बाल वीर्य, पंडित वीर्य, बाल पंडितवीर्य। गौतम स्वामी पूछते हैं--भगवन्! मोहनीय

कर्म के उदय वाला परलोक की जो क्रिया करता है, वह उन तीनों वीर्यों में से किस वीर्य द्वारा करता है? अर्थात्-किस वीर्यता से उपस्थान होता है?

जिस जीव में अर्थ का सम्यक् बोध न हो और सद्बोध के फलस्वरूप विरति न हो, (क्योंकि सम्यग्ज्ञान का फल विरति-चारित्र है) अर्थात् जो मिथ्यादृष्टि हो उसे 'बाल' कहते हैं। बाल जीव का वीर्य बालवीर्य कहलाता है।

पंडित का अर्थ यहाँ पोथे पढ़ लेने वाला नहीं है। बल्कि सर्व सावद्य योग का त्याग करने वाला पंडित कहलाता है। जो पोथे पढ़ कर भी पाप का त्याग न कर सका, परमार्थ की दृष्टि से उसे अज्ञानी ही कहना चाहिए। जिसने शुष्क ज्ञान पढ़ा और पाप नहीं टाला, उसका ज्ञान निष्फल है। वह अज्ञानी है। कहा भी है—

तज्ज्ञानमेव न भवति, यस्मिन्नुदिते विभाति रागगण:।
तमस: कुतोऽस्ति शक्तिर्दिनकरकिरणाग्रत: स्थातुम्?

अर्थात्—जिसकी मौजूदगी में भी राग-द्वेष पाये जावें, वह ज्ञान ही नहीं हो सकता। ज्ञान का फल राग-द्वेष को टालना है। जिस ज्ञान से यह फल प्राप्त न हो सका वह ज्ञान नहीं कहा जा सकता। सूर्य की किरणों के सामने ठहरने की शक्ति अंधकार में नहीं है। अर्थात् सूर्य का प्रकाश फैलने पर अंधकार नष्ट हो जाता है। अतः जिसके फैलने पर अंधकार

प्राप्त न हो, बल्कि पता रहे कि मुझे [illegible] सकता है। इसी प्रकार ज्ञान के होने पर स्वभाव का नाश होना चाहिए। अगर स्वभाव का नाश नहीं होता तो उसे ज्ञान ही नहीं कहा जा सकता। जो पुरुष ज्ञानवान कहलाता हुआ भी स्वभाव के वश व्यवहार में बहा हुआ है उसे ज्ञान नहीं, अज्ञान ही है। अतएव यह स्वभाव [illegible] तथा [illegible] क्रिया न होना [illegible]। [illegible] में भी [illegible] कहा है—

[illegible]

अर्थात्—[illegible] के लिए [illegible] [illegible] है। [illegible] है, [illegible] है।

गीता में [illegible] के अनुसार [illegible] कहा गया है और ज्ञान के [illegible] क्रिया पर [illegible] विचार किया गया है। शास्त्रों में कहा है कि [illegible] की आवश्यकता [illegible] है। यद्यपि [illegible] में [illegible] है, [illegible] है और [illegible] है, तथापि वह [illegible] है। यह [illegible] है कि मैं जिस बात को जानता हूँ, उसे [illegible] में नहीं ला रहा हूँ और पुनि उसे आचरण में ला रहे हैं।

मित्रो ! अगर आप दया की बात जानते मात्र हैं, उसे में नहीं लाते, बल्कि दूसरों को चूसकर मौज उड़ाना ही है तो कहना चाहिए कि अभी आप जैनत्व से दूर हैं। के इन वचनों में बड़ा रहस्य है। कोई चाहे थोड़ा पढ़ा हो ज्यादा पढ़ा हो, लेकिन जिसमें विरति है—जो क्रियावि शास्त्रकार उसे पंडित कहते हैं। पंडित पुरुष का वीर्य— क्रम पंडितवीर्य कहलाता है।

तीसरा भेद बाल-पंडितवीर्य का है। जिन-जिन कामों को त्यागा नहीं है, उन्हें त्यागने योग्य समझना पंडित है परन्तु मोह के उदय से अभी जो नहीं त्यागा है सो बाल है। त्याज्य कामों को न त्यागना अगर बालपन नहीं जायगा तो वे काम त्याग के योग्य नहीं माने जा सकते। उदाहरणार्थ—एक मनुष्य हिंसा को त्याज्य जानता है। वह हिंसा कर रहा था इतने में किसी ने उससे पूछा—यह क्या कर रहा है ? उसने उत्तर दिया-हिंसा कर रहा हूँ। प्रश्नकर्त्ता ने फिर पूछा-हिंसा करने योग्य है या त्यागने योग्य है ? उसने कहा त्यागने योग्य है। प्रश्नकर्त्ता फिर पूछता है—अगर हिंसा त्यागने योग्य है तो कर क्यों रहा है ? उसने कहा—यह मेरी भूल है, प्रमाद है।' इस प्रकार हिंसा को त्याज्य स्वीकार करना पण्डितपन है किन्तु आचरण से उसे नहीं छोड़ना बालपन है। सारांश यह है कि जो पुरुष एक देश से—आंशिक रूप से— पाप से हट जाता है यानी देश विरति का पालन करता है

बालपंडित कहलाता है। उसका वीर्य बालपंडितवीर्य कहा जाता है।

गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में भगवान कहते हैं—हे गौतम! मोहनीय कर्म के उदय वाला परलोक की क्रिया बालवीर्यता से करता है, वह पंडितवीर्यता या बालपंडितवीर्यता से नहीं करता। अर्थात् बालवीर्यता से वह क्रिया करने के लिए उपस्थान करता है।



अवक्रमण पतन

मूलपाठ—

प्रश्न—जीवे णं भंते ! मोहणिज्जेणं कडेणं कम्मेणं उदिण्णेणं अवक्कमेज्जा ?

उत्तर—हंता, अवक्कमेज्जा ।

प्रश्न—से भंते ! जाव बालपंडिअवीरियत्ताए अवक्कमेज्जा ?

उत्तर—गोयमा ! बालवीरियत्ताए अवक्कमेज्जा, नो पंडिअवीरियत्ताए अवक्कमेज्जा, सिय बालपंडिअवीरियत्ताए अवक्कमेज्जा । जहा उदिण्णेणं दो आलावगा तहा उवसंतेण वि दो आलावगा भाणि-

यत्ता, नवरं उवट्ठाएज्जा पंडिअवीरियत्ताए, अवक्क-
मेज्जा, बालपंडिअवीरियत्ताए ।

प्रश्न—से भंते ! किं आयाए अवक्कमइ, अणायाए अवक्कमइ ?

उत्तर—गोयमा ! आयाए अवक्कमइ, णो अणायाए अवक्कमइ ।

प्रश्न—मोहणिज्जं कम्मं वेएमाणे से कहमेयं भंते ! एवं ?

उत्तर—गोयमा ! पुव्विं से एयं एवं रोयइ, इयाणिं से एयं एवं नो रोयइ, एवं खलु एयं एवं ।

संस्कृत—छाया

प्रश्न—जीवो भगवन् ! मोहनीयेन कृतेन कर्मणा उदीर्णे-नाऽपक्रामेत् ?

उत्तर—हन्त, अपक्रामेत् ।

प्रश्न—तद् भगवन् ! यावत्-बालपण्डित वीर्यतयाऽपक्रामेत् ?

उत्तर—गौतम ! बालवीर्यतयाऽपक्रामेत्, नो पण्डितवीर्यतयाऽपक्रामेत्, स्यात् बालपण्डितवीर्यतयाऽपक्रामेत्। यथोदीर्णे द्वौ आलापकौ तथोपशान्तेनापि द्वौ आलापकौ भणितव्यौ, [illegible] उपतिष्ठेत् पण्डितवीर्यतया, अपक्रामेद् बालपण्डितवीर्यतया।

प्रश्न—तद् भगवन् ! किमात्मनाऽपक्रामति अनात्मनाऽपक्रामति ?

उत्तर—गौतम ! आत्मनाऽपक्रामति, नो अनात्मनाऽपक्रामति।

प्रश्न—मोहनीयं कर्म वेदयन् तत् कथमेतत् भगवन् ! [illegible]

उत्तर—गौतम ! पूर्वं तस्यैतदेवं रोचते, इदानीं तस्यै[illegible] [illegible], एवं खलु एतदेवम्।

शब्दार्थ—

प्रश्न—भगवन् ! क्या मोहनीय कर्म जब उदय में आ[illegible] [illegible] अपक्रमण करता है—[illegible] गुणस्थान [illegible] [illegible] आता है ?

उत्तर—गौतम ! हाँ, अपक्रमण करता है।

प्रश्न—[illegible] [illegible] है ?

उत्तर—बालवीर्य से होता है और कदाचित् बाल-पंडितवीर्य से भी होता है, परन्तु पंडितवीर्य से नहीं होता। जैसे 'उदय में आये हुए' पद के साथ दो आलापक कहे हैं, उसी प्रकार 'उपशान्त' पद के साथ भी दो आलापक कहने चाहिए। विशेषता यह है कि यहाँ पंडितवीर्य से उपस्थान होता है और बालपंडितवीर्य से अपक्रमण होता है।

प्रश्न—भगवन् ! अपक्रमण आत्मा से होता है या अनात्मा से होता है ?

उत्तर—गौतम ! अपक्रमण आत्मा से होता है, अनात्मा से नहीं होता।

प्रश्न—भगवन् ! मोहनीय कर्म को वेदता हुआ यह इस प्रकार क्यों होता है ?

उत्तर—गौतम ! पहले उसे इस प्रकार रुचता है और अब उसे इस प्रकार रुचता नहीं है इस कारण यह इस प्रकार होता है।

इसके अतिरिक्त एक बात और भी विचारणीय है। वह यह है कि जीव ने कर्म अनादि से किये हैं या आदि से? अगर अनादि से कहा जाय तो ठीक नहीं, क्योंकि सृष्टि तो आदि काल से है और कर्म सृष्टि से पहले-अनादि कालीन कैसे हो सकते हैं? अगर कर्म आदि हैं तो पहले-पहल जीवों के साथ वह कैसे लगे? अगर ईश्वर ने जबर्दस्ती लगा दिये तो ईश्वर को अत्याचारी मानना पड़ेगा।

इस प्रकार विचार करने पर कर्तृत्ववाद में अनेक बाधाएं उपस्थित होती हैं। अतएव ईश्वर को सृष्टि का रचने वाला नहीं माना जा सकता।

इस प्रकार के प्रश्नों के संबंध में आर्यसमाजी कहते हैं कि ईश्वर, जीव, आकाश और कुछ जड़ पदार्थ नित्य हैं। उनका यह भी कहना है कि जीव कर्म करने में स्वतंत्र है परन्तु भोगने में परतंत्र है। कर्म तो जीव स्वेच्छा से कर लेता है मगर फल देना ईश्वर के अधीन है। वही सब के कर्मों की सज़ा देता है। इस पर प्रश्न यह उपस्थित होता है कि ईश्वर सज़ा देने के बदले सज़ा के योग्य कामों को रोकता क्यों नहीं है? वह सज़ा देने में जिस शक्ति का उपयोग करता है उसका उन कामों को रोकने में क्यों नहीं करता? अगर ईश्वर को यह ज्ञान नहीं है कि कौन जीव क्या कर्म करने वाला है तो वह सर्वज्ञ कैसा? और फिर सज़ा देने के लिए सब के किये हुए कामों का हिसाब कैसे रखता है? अगर यह कहा जाय कि ईश्वर जानता सब

कुछ है मगर कर्म करते समय जीवों को रोक नहीं सकता तो फिर ईश्वर आपके कथनानुसार सर्व शक्तिसम्पन्न कैसे हो सकेगा ? अगर वह सब कुछ जानता है, रोकने की शक्ति होने पर भी रोकता नहीं है और पापकर्म करने देता है तो फिर उसे दयालु कौन कह सकता है ? अतएव ईश्वर को जगत्कर्त्ता मानना ठीक नहीं है।

परमाणु और स्कंध के पश्चात् गौतम स्वामी ने जीव के विषय में प्रश्न किया है। वे पूछते हैं—भगवान ! जीव अनन्त और शाश्वत भूत, भविष्य तथा वर्त्तमान में था, रहेगा और है, यह कहा जा सकता है ? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान ने फ़र्माया—हाँ गौतम ! यह कहा जा सकता है।

परमाणु, स्कंध और जीव संबंधी प्रश्न में सारे संसार का पाया रोप दिया गया है। जैन शास्त्र के अनुसार मूल दो ही वस्तुएँ हैं—जड़ और चेतन। यह दोनों ही अनादि हैं। इस पर यह प्रश्न खड़ा किया जा सकता है कि अगर दोनों अनादि हैं तो एक को अविनाशी और दूसरे (पुद्गल) को नाशवान क्यों कहते हैं ? इसका उत्तर यह है कि पुद्गल भी वास्तव में नाशवान नहीं है। फिर भी पुद्गल को नाशवान् कहने का कारण दूसरा ही है। जीव असंख्यात प्रदेशी है और तीनों कालों में सदा असंख्यात प्रदेशी ही रहता है। उसमें न एक भी प्रदेश की कमी होती है, न वृद्धि ही। पुद्गल ऐसा नहीं है।

वह अनन्त प्रदेशी से घट कर कभी असंख्यात प्रदेशी बन जाता है। मिलना और बिछुड़ना पुद्गल का धर्म है। अतएव पुद्गल को नाशवान् कहते हैं। यही कारण है कि एक को अविनाशी और दूसरे को विनश्वर कहा जाता है।



मुक्ति

मूलपाठ—

प्रश्न—छउमत्थे णं भंते ! मणुस्से अतीतं, ाणंतं, सासयं समयं केवलेणं संजमेणं, केवलेणं, ंवरेणं, केवलेणं बंभचेरवासेणं, केवलाहिं पवयणा- ाईहिं सिज्झिसु, बुज्झिसु, जाव-सव्वदुक्खाणं ंतं करिंसु ?

उत्तर—गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे ।

प्रश्न—से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-तं चेव ाव-अंतं करिंसु ?

उत्तर—गोयमा ! जे केइ अंतकरा, अंतिम रीरिआ वा सव्वदुक्खाणं अंतं करेंसुवा, करेंतिवा,

करिस्संतिवा सव्वे ते उप्पण्णणाणदंसणधरा, अरहा, जिणा, केवली, भवित्ता, तओ पच्छा सिज्झंति, बुज्झंति, मुच्चंति, परिणिव्वायंति, सव्वदुक्खाणं अंतं करेंसुवा, करेंतिवा, करिस्संति वा, से तेणट्ठेणं गोयमा! जाव-सव्वदुक्खाणं अंतं करेंसु, पडुप्पण्णे वि एवं चेव, नवरं 'सिज्झंति' भाणियव्वं, अणागये वि एवं चेव, नवरं 'सिज्झिस्संति' भाणियव्वं। जहा छउमत्थो तहा आहोहिओ वि, तहा परमाहोहिओ वि, तिण्णि तिण्णि आलावगा भाणिअव्वा।

प्रश्न—केवली णं भंते! मणूसे अतीतं, अणंतं, सासयं समयं जाव अंतं करेंसु?

उत्तर—हंता, सिज्झिंसु, जाव-अंतं करेंसु, एते तिन्नि अलावगा भाणियव्वा छउमत्थस्स जहा, नवरं सिज्झिंसु, सिज्झंति, सिज्झिस्संति।

प्रश्न—से णूणं भंते! अतीतं, अणंतं सासयं समयं, पडुप्पण्णं वा सासयं समयं, अणागयं अणंतं

ा सासयं समयं जे केइ अंतकरा वा, अंतिम-सरी-
रिआ वा, सव्वदुक्खाणं अंतं करेंसुवा, करेंतिवा,
करिस्संति वा, सव्वे ते उप्पएणणाण-दंसणधरा,
अरहा. जिणा, केवली, भवित्ता इओ पच्छा
सिज्झंति, जाव-अंतं करेस्संति वा ?

उत्तर—हंता, गोयमा ! अतीतं अणंतं सासयं समयं जाव अन्तं करिस्संति वा ।

प्रश्न—से णूणं भंते ! उप्पएणणाणदंसणधरे, अरहा, जिणे, केवली 'अलमत्थु' त्ति वत्तव्वं सिया ?

उत्तर—हंता, गोयमा ! उप्पएणणाण-दंसण-धरे, अरहा, जिणे, केवली 'अलमत्थु' त्ति वत्तव्वं सिया ।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति ।

संस्कृत—छाया

प्रश्न—छद्मस्थो भगवन् ! मनुष्यः, अतीतम्, अनन्तम्, शाश्वतं समयं केवलेन संयमेन, केवलेन संवरेण, केवलेन

[illegible]

[illegible] परिणिव्वाइंसु, सव्वदुक्खाणं अंतं करेंसु वा, करेंति वा, करिस्संति वा, से तेणट्ठेणं गोयमा! जाव अंतं करेंसु, पडुप्पन्ने वि एवं चेव, नवरं 'सिज्झंति' भाणियव्वं, अणागए वि एवं चेव, नवरं 'सिज्झिस्संति' भाणियव्वं। जहा छउमत्थो तहा आहोहिओ वि, तहा परमाहोहिओ वि, तिण्णि तिण्णि आलावगा भाणियव्वा।

प्रश्न—केवली णं भंते ! मणूसे अतीतं अणंतं, सासयं समयं जाव अंतं करेंसु ?

उत्तर—हंता, सिज्झिंसु, जाव-अंतं करेंसु, एते तिन्नि आलावगा भाणियव्वा छउमत्थस्स जहा, नवरं सिज्झिंसु, सिज्झंति, सिज्झिस्संति।

प्रश्न—से णूणं भंते ! अतीतं, अणंतं सासयं समयं, पडुप्पण्णं वा सासयं समयं, अणागयं अणंतं

ा सासयं समयं जे केइ अंतकरा वा, अंतिम-सरी-
रिआ वा, सव्वदुक्खाणं अंतं करेंसुवा, करेंतिवा,
करिस्संति वा, सव्वे ते उप्पण्णणाण-दंसणधरा,
अरहा, जिणा, केवली, भवित्ता इओ पच्छा
सिज्झंति, जाव-अंतं करेस्संति वा ?

उत्तर—हंता, गोयमा ! अतीतं अणंतं सासयं
समयं जाव अन्तं करिस्संति वा ।

प्रश्न—से णूणं भंते ! उप्पण्णणाणदंसणधरे,
अरहा, जिणे, केवली 'अलमत्थु' त्ति वत्तव्वं सिया ?

उत्तर—हंता, गोयमा ! उप्पण्णणाण-दंसण-
धरे, अरहा, जिणे, केवली 'अलमत्थु' त्ति वत्तव्वं
सिया ।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति ।

संस्कृत—छाया

प्रश्न—छद्मस्थो भगवन् ! मनुष्यः, अतीतम्, अन-
न्तम्, शाश्वतं समयं केवलेन संयमेन, केवलेन संवरेण, केवलेन

शब्दार्थ—

प्रश्न—भगवन् ! बीते हुए अनन्त शाश्वत काल में छद्मस्थ मनुष्य केवल संयम से, केवल संवर से, केवल ब्रह्मचर्यवास से और केवल प्रवचन माता से सिद्ध हुआ है ? बुद्ध हुआ है ? और यावत् समस्त दुःखों का नाश करने वाला हुआ है ?

उत्तर—गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है।

प्रश्न—भगवन् ! किस कारण से आप ऐसा कहते हैं कि—पहले के समान कहना चाहिए। पूर्वोक्त छद्मस्थ मनुष्य यावत् अंतकर नहीं हुआ ?

उत्तर—गौतम ! जो कोई अंत करने वाला और चरम शरीरी हुआ और जिसने दुःखों का नाश किया है, जो करता है अथवा करेगा, वह सब उत्पन्न ज्ञान-दर्शन धारी, अरिहंत, जिन और केवली होकर, फिर सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हुए हैं, निर्वाण को प्राप्त हुए हैं और उन्होंने समस्त दुःखों का नाश किया है, वही करते हैं और वही करेंगे। इस कारण गौतम ! इस हेतु से ऐसा कहा है कि यावत्

समस्त दुःखों का अन्त किया। वर्तमान काल में भी इसी प्रकार जानना। विशेष यह है कि 'सिद्ध होते हैं' ऐसा बोलना। तथा भविष्यकाल में भी इसी प्रकार जानना। विशेष यह कि 'सिद्ध होंगे' ऐसा बोलना। जैसा छद्मस्थ (के विषय में) कहा, वैसा ही आधोवधिक और परमाधोवधिक के विषय में समझना चाहिए और उसके तीन आलापक कहने चाहिए।

प्रश्न—भगवन्! बीते हुए अनन्त शाश्वत काल में केवली मनुष्य ने यावत् समस्त दुःखों का अन्त किया?

उत्तर—हाँ, गौतम! वह सिद्ध हुआ, उसने सब दुःखों का अन्त किया। यहाँ भी छद्मस्थ के समान तीन आलापक कहना। विशेष यह है कि सिद्ध हुआ, सिद्ध होता है और सिद्ध होगा, इस प्रकार के तीन आलापक कहने चाहिए।

प्रश्न—भगवन् बीते हुए अनन्त शाश्वत काल में, वर्तमान शाश्वत काल में और अनन्त शाश्वत भविष्यकाल में जिन अंतकरों ने, चरमशरीर वालों ने सब दुःखों का

नाश किया, करते हैं और करेंगे, वह सब उत्पन्न ज्ञान-दर्शनधारी अरिहंत, जिन और केवली होकर सि[illegible] होते हैं। यावत्—सब दुःखों का नाश करेंगे?

उत्तर—गौतम! हाँ, बीते हुए अनन्त शाश्वत काल में यावत् सब दुःखों का अन्त करेंगे।

प्रश्न—भगवन्! वह उत्पन्नज्ञान-दर्शनधर, अरिहंत, जिन और केवली 'अलमस्तु' अर्थात् पूर्ण हैं, ऐसा कहना चाहिए?

उत्तर—गौतम! हाँ, वह उत्पन्न ज्ञान-दर्शनधारी अरिहंत, जिन और केवली पूर्ण हैं, ऐसा कहना चाहिए।

भगवन्! ऐसा ही है! भगवन्! यह ऐसा ही है!

व्याख्यान

पहले प्रश्नोत्तर में परमाणु आदि जड़ पदार्थ का तथा जीव का अस्तित्व प्रकट किया गया था। यहाँ यह बतलाते हैं कि जीव अगर अनादि है तो वह भव-बंधन से कभी छूट सकता है या नहीं? यह जानने के लिए ही गौतम स्वामी प्रश्न करते हैं। कई लोगों की धारणा है कि जो वस्तु अनादि से है,

अवधिज्ञान वाले मनुष्य का ज्ञान भी आवरण से ढँका होता है, तथापि यहां उसका ग्रहण नहीं करना चाहिए। जिसे अवधिज्ञान नहीं है, उसे ही यहां छद्मस्त समझना चाहिए, क्योंकि आगे अवधिज्ञानी के लिए अलग प्रश्न किया गया है। अगर यहां अवधिज्ञानी भी छद्मस्त पद से ले लिया जाय तो वह प्रश्न निरर्थक हो जायगा। जिन्हें केवलज्ञान नहीं है, ऐसे सभी जीव छद्मस्त पद में अन्यत्र समझे जाते हैं परन्तु यहाँ अवधिज्ञान से भी रहित जीवों को छद्मस्त समझना चाहिए।

भाषाशास्त्र के अनुसार जो अर्थ एक सूत्र में गर्भित होजाता है, उस अर्थ को प्रकट करने वाला दूसरा सूत्र निरर्थक होजाता है। जब दूसरा सूत्र मौजूद हो तो उसके लिए जगह रखनी चाहिए। कल्पना कीजिए-किसी आदमी ने दो मनुष्यों को आमत्रंण देकर बुलाया। उनमें से एक पहले आगया। वह आसन पर बैठ गया। दूसरा आदमी बाद में आया तो पहले आने वाले को चाहिए कि आसन पर जगह करके इसे भी बैठने दे। अन्यथा इस दूसरे आदमी का आना निरर्थक हो जायगा। इसी प्रकार जब अवधिज्ञानी का वर्णन अलग है और छद्मस्त के वर्णन में भी अवधिज्ञानी का वर्णन कर लिया जायगा तो अवधिज्ञानी वाला सूत्र निरर्थक हो जायगा। अतएव छद्मस्त के वर्णन में अवधिज्ञानी का वर्णन नहीं करना चाहिए किन्तु अवधिज्ञानी का वर्णन अवधिज्ञानी वाले सूत्र

लिए सुरक्षित रखना चाहिए। अवधिज्ञानी वाला सूत्र निरर्थक हो इसीलिए टीकाकार ने कहा कि—यहाँ छद्मस्थ का अर्थ अवधिज्ञानी को छोड़ कर है।

यहाँ केवल का अर्थ है—सिर्फ, अकेला, दूसरे की सहायता के बिना ही। यद्यपि 'केवल' शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। जैसे—

केवलमेगं सुद्धं वा सगलमसाहरणं अणंतं च।

अर्थात्—अकेला, शुद्ध, सम्पूर्ण, असाधारण और अनन्त इन अर्थों में केवल शब्द का प्रयोग होता है।

पृथ्वीकाय, अपकाय, आदि षट्काय के जीवों की सम्यक् प्रकार से यतना करना संयम कहलाता है। यह व्याख्या इतनी व्यापक है कि संयम के अन्तर्गत सभी बातें इसमें आ जाती हैं।

यहां केवल संयम कहा है। इसका अर्थ है—दूसरे की सहायता की अपेक्षा न रखने वाला संयम, अथवा शुद्ध संयम अथवा परिपूर्ण संयम अथवा असाधारण संयम। श्रीगौतमस्वामी पूछते हैं कि इस प्रकार का संयम पालने वाला छद्मस्थ मनुष्य अतीत काल में सिद्ध हुआ है।

संयम के बाद 'केवल संवर' के विषय में प्रश्न किया है। इन्द्रियों और कषायों को रोकना संवर कहलाता है। केवल शब्द का अर्थ वही है जो पहले बतलाया जा चुका है। केवल

संयम के साथ ही गौतम स्वामी पूछते हैं —केवल संवर वाला छद्मस्त भूत काल में सिद्ध हुआ है ।

केवल ब्रह्मचर्यवास और केवल प्रवचन माता अर्थात् पां समितियां और तीन गुप्तियाँ—इन दो पदों का अर्थ स्प ही है ।

उपशान्त मोहनीय नामक ग्यारहवें गुण स्थान में सम्पूर्ण कषाय का विजय और सम्पूर्ण इन्द्रियों का निरोध होकर यथाख्यात चरित्र होता है । इस अवस्था में विशुद्ध संयम आदि विद्यमान हैं और विशुद्ध संयम ही मुक्ति का साधन है। यह विशुद्ध संयम उपशान्त मोह वाले में मौजूद है और वह छद्मस्त है, तो क्या वह उसी भव में मोक्ष प्राप्त कर लेता है? इसी प्रकार बारहवें क्षीणमोहनीय गुणस्थान में विशुद्ध संयम आदि हैं लेकिन उस गुणस्थान वाला मनुष्य छद्मस्त है तो क्या वह उसी गुणस्थान से मुक्ति प्राप्त कर सकता है ?

वस्तव में यह प्रश्नोत्तर ज्ञान और क्रिया—दोनों को मोक्ष का साधन प्रकट करने के लिए है । दोनों में से एक के अभाव में मुक्ति नहीं मिलती । मगर कई लोग अकेली क्रिया से मोक्ष मानते हैं और कई अकेले ज्ञान से । दोनों एकान्तवादी परस्पर विवाद में पड़कर अपना-अपना समर्थन करते हैं । ज्ञानवादी कहना है—अगर अकेली क्रिया से मोक्ष हो तो ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थान में पूर्ण क्रिया—यथाख्यात चरित्र है, फि

ही मोक्ष क्यों नहीं मिलती ? इसी प्रकार एकान्त क्रिया से ोक्ष मानने वाला कहता है—अगर ज्ञान से ही मोक्ष मिलता तो तेरहवें गुणस्थान से चौदहवें गुणस्थान में जाने की क्या ावश्यकता है ? तेरहवें गुणस्थान में ही पूर्ण ज्ञान होजाता ;, इस लिए वहीं मोक्ष होजाना चाहिए।

ज्ञान और क्रिया के संबंध में इस प्रकार का विवाद है। स विषय को स्पष्ट करने के लिए गौतम स्वामी ने उक्त प्रश्न किया है। इस प्रश्न के उत्तर में भगवान ने फ़र्माया—गौतम यह अर्थ समर्थ नहीं है।

तब गौतम स्वामी ने पूछा—भगवन् ! ऐसा क्यों ? तब भगवान फ़र्माते हैं—गौतम ! जितने मनुष्य संसार का अर्थात् जन्म-मरण का अन्त करने वाले हुए हैं, वे सब चरम शरीरी थे। ऐसे जिन चरम शरीरियों ने मोक्ष प्राप्त किया है, जो करते हैं या करेंगे, वे सब उत्पन्न ज्ञान—दर्शन को धारण करने वाले अर्हन्त, जिन, केवली होकर ही सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हुए हैं, होते हैं और होंगे।

जिन्हें अनादि—सिद्ध ज्ञान नहीं किन्तु जो उत्पन्न हुए ज्ञान और दर्शन को धारण करने वाले हैं उन्हें 'उत्पन्नज्ञान दर्शनधर' कहते हैं। इस विशेषण से अनादी मुक्तात्मा मानने वाले मत का निराकरण किया गया है। कई लोगों का यह कथन है कि ईश्वर अनादीकाल से, स्वतः सिद्ध ज्ञानवान है।

उसे कर्मक्षय की आवश्यकता नहीं है । लेकिन जैनशास्त्र का सिद्धान्त यह है कि समस्त ज्ञानियों को कर्मक्षय करने के पश्चात् ही केवल ज्ञानदर्शन प्राप्त होता है ।

अर्हा का अर्थ है—पूजा के योग्य । जैसा पूज्य होता है वैसी ही उसकी पूजा की जाती है । लोक में भी किसी देव की पूजा तेल-सिंदूर से की जाती है, किसी की केसर-चन्दन से। केसर से पूजने योग्य देव की पूजा अगर तेल-सिंदूर से करें तो वह पूजित नहीं समझा जाता और यही कहा जाता है कि जैसा देव वैसी पूजा होनी चाहिए । यही बात अर्हन्त के लिए है । अर्हन्त किस प्रकार की पूजा के योग्य हैं यह समझने की बात है । अर्हन्त की पूजा सब से पहले गणधर ही करते हैं । आगे के पाठ में आया है कि गौतम स्वामी ने भगवान की पूजा की, तो क्या उन्होंने पुष्प चढ़ाकर उनकी पूजा की थी ? कदाचित् यह कहा जाय कि गौतम स्वामी मुनि थे और मुनियों को सचित्त पदार्थ का स्पर्श करना भी नहीं कल्पता है मगर हम लोग गृहस्थ हैं इस लिए हमें ऐसी पूजा करने की छुट्टी है; तो इसके लिए चरितानुयोग देखना चाहिए। कोणिक राजा ने भी भगवान की पूजा की थी। कोणिक भगवान के पास सचित्त वस्तु—फूल—फल आदि तथा शस्त्र लेकर नहीं गया था । उसने मन, वचन, काय से पूजा की थी। अर्हन्त भगवान पर एकान्त भाव धारण करना, उन्हें ही आराध्य देव मान कर सब तरफ से मन को हटा लेना, मन से

पूजा करना कहलाता है। भगवान के वचन को तथ्य हैं, सत्य है आदि कहना और उनकी स्तुति करना वचन से पूजा है तथा पंचांग नमाकर नमन करना कायिक पूजा है। इस प्रकार की पूजा के योग्य जो हैं उन्हें अर्हन्त या अर्ह कहते हैं। यही भगवान की उत्कृष्ट एवं आदर्श पूजा है।

जिसने राग-द्वेष आदि आत्मिक विकारों पर विजय प्राप्त कर ली हो वह वीतराग पुरुष 'जिन' कहलाता है।

भगवान ने फर्माया—हे गौतम! छद्मस्थ मोक्ष नहीं गये हैं, न जाते हैं न जावेंगे किन्तु जो अर्हन्त, जिन और केवली होते हैं वही मोक्ष गये हैं, जाते हैं और जाते रहेंगे।

इस सूत्र से यह स्पष्ट होगया कि मुक्ति प्राप्त करने के लिए ज्ञान और क्रिया—दोनों की आवश्यकता है। पूर्ण ज्ञान और पूर्ण क्रिया होने पर ही मोक्ष होता है। ज्ञान और क्रिया दोनों के बिना काम नहीं चलता। 'नह्येक चक्रेण रथः प्रयाती' अर्थात् एक पहिये से रथ नहीं चलता। इसी प्रकार अकेले ज्ञान और अकेली क्रिया कार्यसाधन नहीं हैं। दो पहियों से रथ चलता है। इसी प्रकार ज्ञान और क्रिया से मोक्ष प्राप्त होता है।

छद्मस्त के विषय में प्रश्न के पश्चात् गौतम स्वामी अवधिज्ञानी के संबंध में पूछते हैं कि—प्रभो! अवधिज्ञानधारी मनुष्य, जिसे एक देश मुख्य प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होगया है,

[illegible]

[illegible]

भगवान् [illegible] फरमाते हैं कि हे गौतम! [illegible] केवल ज्ञानी होने पर ही मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है।

अवधिज्ञान के अनेक भेद-प्रभेद हैं। कोई अवधिज्ञानी अंगुल के असंख्यातवें भाग मात्र को ही जानते हैं और कोई सम्पूर्ण लोक को तथा लोक के बराबर असंख्यात खंड अलोक के भी जानने की शक्ति रखते हैं। इतना प्रबल अवधिज्ञान होने पर तथा मनःपर्यवज्ञान संयम का पालन होने पर भी केवल तप, ब्रह्मचर्य और केवल पंचमहाव्रतों की आराधना से मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता। केवली होने पर ही मुक्ति प्राप्त की जा सकती है।

अवधिज्ञान किसे कहते हैं, यह भी समझ लेना चाहिए। 'अवधि' का अर्थ है—मर्यादा। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की मर्यादा के अनुसार उत्पन्न होने वाले और मन एवं इंद्रियों की सहायता के बिना ही जानने वाले ज्ञान को अवधिज्ञान कहते हैं। तथा—पहले देवलोक के देव नीचे पहले नरक तक जानते देखते हैं और ऊपर अपनी ध्वजा-पताका से आगे नहीं देख सकते। इस प्रकार का अवधिज्ञान जिसे प्राप्त होगया

यह भी मोक्ष नहीं जाता। यों तो जिसे लोकाकाश को जानकर अलोक का एक प्रदेश भी जानने वाला ज्ञान प्राप्त हो जाय वह मनुष्य उसी भव में मोक्ष हो जाता है लेकिन जाता केवली होकर के ही।

इसके अनन्तर गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवन्! बीते हुए अनन्त शाश्वत काल में केवली मनुष्य ने सब दुखों का नाश किया है?

भगवन् फ़र्माते हैं—गौतम! हां, केवली मनुष्य सिद्ध हुए हैं, उन्होंने सब कर्मों का नाश किया है। इसी प्रकार करते हैं और करेंगे।

यहाँ यह शंका हो सकती है कि छद्मस्थ संबंधी उत्तर में भगवान ने फ़र्मा दिया था कि केवली ही मोक्ष जाते हैं, तब केवली के विषय में यह प्रश्न अलग क्यों किया गया है?

इसका ठीक कारण तो पूर्णज्ञानी ही जाने लेकिन पुनः प्रश्न करने का प्रयोजन यह मालूम होता है कि एक ही प्रश्न को दूसरी बार पूछने से और भगवान का उत्तर सुनने से ज्ञान में विशेष विकास और दृढ़ता आती है। इस अभिप्राय के सिवाय और क्या गंभीर अभिप्राय था। यह नहीं कहा जा सकता।*

---

* दुबारा प्रश्न करने के संभवतः दो उद्देश्य और हो सकते हैं। प्रथम यह कि छद्मस्थ वाले प्रश्न में निषेध प्रधान है

जितने भी सिद्ध हुए हैं, वे सब मनुष्यभव से ही हुए। मनुष्य के सिवा और कोई जीव चरमशरीरी नहीं हो सकता। चरमशरीरी हुए बिना केवली नहीं हो सकता और केवली हुए बिना मोक्ष होना असम्भव है। इस पर यह प्रश्न किया जा सकता है कि, अगर ऐसा है तो मोक्ष की आदि होनी चाहिए अर्थात् कोई खास समय ऐसा होना चाहिए जब मनुष्य सबसे पहले मोक्ष गया और उससे पहले कोई मोक्ष नहीं गया था। क्या यह सत्य है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि यह नतीजा निकालना ठीक नहीं है, क्योंकि मनुष्य अनादिकाल से चला आता है अतएव मोक्ष भी अनादिकाल से ही है। जैसे काल अनादि और अनन्त है उसी प्रकार प्रवाह रूप से मनुष्य भी

और केवली वाले प्रश्न में विधि प्रधान है। अर्थात् पहले उत्तर की मुख्य ध्वनि यह है कि छद्मस्थ मोक्ष नहीं पा सकता और दूसरे उत्तर का मुख्य लक्ष्य यह है कि केवली अवश्य ही मोक्ष प्राप्त करता है। तात्पर्य यह है कि पहले प्रश्न के उत्तर से यह प्रकट हो गया था कि छद्मस्थ मोक्ष नहीं जाते, केवली ही मोक्ष जाते हैं। दूसरे प्रश्न के उत्तर में यह सूचित किया गया है कि केवली मोक्ष ही जाते हैं, अन्यत्र नहीं जा सकते। दूसरे कई लोग मुक्ति नहीं मानते, कई मानते तो हैं मगर मुक्ति को 'सासयं' (शाश्वत) नहीं मानते, उनका निषेध करने के अभिप्राय से यह प्रश्न पूछा गया हो, यह बहुत कुछ संभव है।

—सम्पादक

...ादि और अनन्त है। इस कारण मोक्ष भी अनादि अनन्त ... इसीलिए गौतम स्वामी ने शाश्वत काल के विषय में प्रश्न ...या है।

...दा भगवान फर्माते हैं—केवली भूतकाल में भी मोक्ष गये हैं, ...विष्य में भी मोक्ष जाएँगे और वर्त्तमान में भी जाते हैं।

...अब भूत, भविष्य और वर्त्तमान, इन तीनों कालों को ...लाकर गौतम स्वामी प्रश्न करते हैं—भगवन् बीते हुए अनंत ...श्वत काल में, वर्त्तमान शाश्वत काल में और अनन्त ...श्वत भविष्य काल में अन्त करने वालों ने अंतिम शरीर ...लों ने सब दुःखों का अंत किया है, करते हैं या करेंगे? वे ...व उत्पन्न ज्ञान-दर्शनधर, अर्हन्त, जिन तथा केवली होकर ...ी सिद्ध होते हैं सब दुःखों का अन्त करते हैं?

...इस प्रश्न के उत्तर में भगवान ने फर्माया—हाँ, गौतम! ...सा ही है।

...इसके पश्चात् गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवन्! उत्पन्न ...ज्ञानदर्शनधर, अरिहंत, जिन और केवली "अलमस्तु" कहलाते हैं?

...'अलमस्तु' का अर्थ है—पूर्ण। जिन्होंने प्राप्त करने योग्य सब ज्ञानादि गुण प्राप्त कर लिये हैं, कुछ भी प्राप्त करने योग्य शेष नहीं रहा है वे पूर्ण या अलमस्तु कहलाते हैं।

गौतम स्वामी के इस प्रश्न में अनेक रहस्य छिपे हैं। संसार में जब भ्रम फैल जाता है तो उत्तम तत्त्व का कुछ का कुछ अर्थ होने लगता है। अर्थ की इस विपरीतता के कारण संसार में गंदगी फैलने लगती है। गौतम स्वामी ने संसार की गंदगी को मिटाने के उद्देश्य से यह प्रश्न किया था।

उत्तम तत्त्व के अर्थ में विपर्यास होने का कारण यह है कि कुछ लोग ज्ञान या योग की सिद्धि हो जाने पर मन की बात या सीमित भूत-भविष्य की बात बतलाने लगते हैं। लोग श्रद्धा और अज्ञता के कारण उन्हें पूर्ण पुरुष मान लेते हैं। इस प्रकार से बने हुए पूर्ण पुरुष की दो-चार अच्छी बातों के साथ कई खराब बातें भी मिल जाती हैं। नतीजा यह होता है कि अनादर्श पुरुष आदर्श माना जाने लगता है। अपूर्ण पुरुष को पूर्ण मान बैठना पूर्ण पुरुष की अवज्ञा करना है। गौतम स्वामी के इस प्रश्न द्वारा योगियों को सावधान किया गया है कि तुम्हारी शक्ति चाहे कितनी ही क्यों न हो अपने आपको अपूर्ण ही समझो—'अलमस्तु' मत मानो। इसके साथ ही संसार के लोगों को भी यह शिक्षा दी गई है कि तुम्हारे मन कि जरासी बात पूरी हो जाने के कारण तुम उन साधक योगियों की मिथ्या प्रशंसा करके उनकी उन्नति मत रोको। उन्हें अवनति के गड्ढे में न डालो।

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि संसार में पूर्ण पुरुष किसे माना जा सकता है? इसका उत्तर यह है कि जिसने

नादि कालीन राग-द्वेष आदि समस्त आत्मिक विकारों पर विजय प्राप्त करली है, जिसका ज्ञान पूर्णता की पराकाष्ठा पर पहुँच गया है—जिससे कोई बात छिपी नहीं है। इस प्रकार जो जिन, अर्हन्त और केवली हो, वही पूर्ण पुरुष है।

चार ज्ञान के धनी और अनुपम बुद्धि के अक्षय भंडार गौतम स्वामी पूर्ण पुरुष-'अलमस्तु' की व्याख्या न जानते हों यह संभव नहीं। लेकिन उन्होंने संसार का भ्रम मिटाने के लिये अपने मुख से न कहकर, विशेष श्रद्धा एवं प्रतीति उत्पन्न करने के लिए ही भगवान के मुखारविन्द से कहलाया है। स्वयं जानते हुए भी महापुरुष से कहलाने की बड़ी अच्छी प्रणाली गौतम स्वामी ने की है।

भगवान के मुख से कहलाने में एक सूचना और भी है। छद्म-बुद्धि मनुष्य अपने मन में सोचते हैं कि किसी बात का निर्णय अगर दूसरे महापुरुष से कराऊंगा तो मेरी लघुता प्रकट होगी। लोग समझेंगे इन्हें इतना भी नहीं आता। मगर गौतम स्वामी में यह निर्बलता नहीं थी। उनमें ऐसा विचार होता तो उनके हृदय से गुरुभक्ति चली जाती। इसके साथ ही भगवान से निर्णय न कराने पर और स्वयं ही निर्णय कर लेने पर वह पद भी चक्कर में पड़ जाता, जिस पर वह पहुँचना चाहते थे। वह केवली पद राग-द्वेष नष्ट करने पर ही मिल सकता है। राग-द्वेष नष्ट करने के लिए गौतम स्वामी ने अपने आपको लघु बनाने का मार्ग पसंद किया।

[illegible] ।
[illegible] ॥
[illegible] ।
[illegible] ॥

प्रश्न—केवइया णं भंते ! पुढविक्काइया वास सयसहस्सा पन्नत्ता ?

उत्तर—गोयमा ! असंखेज्जा पुढविक्काइयावास सयसहस्सा पन्नत्ता, जाव–असंखिज्जा जोइसिय विमाणा वास सयसहस्सा पन्नत्ता ।।

प्रश्न—सोहम्मे णं भंते ! कप्पे केवईया विमाणावासा पन्नत्ता ?

उत्तर—गोयमा ! बत्तीसं विमाणावास सय-सहस्सा पन्नत्ता । एवं:—

चत्तीस-छव्वीसा बारस-अट्ठ-चउरो सयसहस्सा ।
पन्ना-चत्तालीसा छच्च सहस्सा सहस्सारे ॥
आणय-पाणयकप्पे चत्तारि सयाऽऽरण-च्चुए तिण्णि ।
सत्त विमाणसयाइं चउसु वि एएसु कप्पेसु ॥
एक्कारसुत्तरं हेट्ठिमेसु सत्तुत्तरं सयं च मज्झमए ।
सयमेगं उवरिमए पंचेव अणुत्तर विमाणा ॥

संस्कृत-छाया

प्रश्न—कति भगवन् ! पृथिव्यः प्रज्ञप्ताः ?

उत्तर—गौतम ! सप्त पृथिव्यः प्रज्ञप्ताः तद्यथा-रत्नप्रभा यावत् तमस्तमा ।

प्रश्न—अस्यां भगवन् ! रत्नप्रभायां पृथिव्यां कति निरया-ऽऽवासशतसहस्राणि प्रज्ञप्तानि ?

उत्तर—गौतम ! त्रिंशद् निरयाऽऽवासशतसहस्राणि प्रज्ञप्तानि । गाथाः—

त्रिंशच्च पञ्चविंशतिः पञ्चदश दशैव च शतसहस्राणि ।
त्रीणि एकं पञ्चोनम् पञ्च एवानुत्तरा निरयाः ॥

प्रश्न — [illegible] भगवन् ! [illegible]
प्रज्ञप्तानि ?

उत्तर — [illegible]

चतुःषष्टिः असुराणां चतुरशीतिश्च भवन्ति नागानाम् ।
द्विसप्ततिः सुपर्णानां वायुकुमाराणां षण्णवतिः ॥
द्वीपदिशोदधीनां विद्युत्कुमारेन्द्रस्तनिताग्नीनाम् ।
षण्णामपि युगलकानां षट्सप्ततिः शतसहस्राणि ॥

प्रश्न — कियन्ति भगवन् ! पृथिवीकायिकावास शतसहस्राणि प्रज्ञप्तानि ?

उत्तर — गौतम ! असंख्येयानि पृथिवीकायिकावास शतसहस्राणि प्रज्ञप्तानि । यावद् असंख्येयानि ज्योतिषिक विमानावास शतसहस्राणि प्रज्ञप्तानि ।

प्रश्न — सौधर्मे भगवन् ! कल्पे कियन्तो विमानावास प्रज्ञप्ताः ?

उत्तर — गौतम ! द्वात्रिंशद् विमानावस शतसहस्राणि प्रज्ञप्तानि । एवं: —

द्वात्रिंशद्-अष्टविंशतिर्द्वादशाष्ट-चत्वारि शतसहस्राणि ।
पञ्चाशत्-चत्वारिंशत् षट् च सहस्राणि सहस्रारे ॥

आनत-प्राणतकल्पे चत्वारि शतानि आरणाच्युते त्रीणि ।
सप्तविमान शतानि चतुर्ष्वपि एतेषु कल्पेषु ॥
एकादशोत्तरयश्चधस्तनेषु सप्तोत्तरं शतं च मध्यमके ।
शतमेकं उपरितने पञ्च एवं अनुत्तर विमानानिः ॥

शब्दार्थ—

प्रश्न—भगवन् ! कितनी पृथिवियाँ कही हैं ?

उत्तर—गौतम ! सात पृथिवियाँ कही हैं। वह इस प्रकार हैं–रत्नप्रभा यावत् तमतमाप्रभा ।

प्रश्न—भगवन् ! इस रत्नप्रभा पृथ्वी में कितने लाख निरयावास–नारकों के रहने के स्थान–कहे हैं ?

उत्तर—गौतम ! तीस लाख निरयावास कहे हैं। सब पृथिवियों में निरयावासों की संख्या बतलाने वाली गाथा इस प्रकार है–पहली पृथ्वी में तीस लाख, दूसरी में पच्चीस लाख, तीसरी में पन्द्रह लाख, चौथी में दस लाख, पाँचवीं में तीन लाख, छठी में पाँच कम एक लाख और सातवीं में सिर्फ पाँच निरयावास कहे गये हैं।

प्रश्न—कियन्ति भगवन् ! वायु कुमारावास शतसहस्राणि प्रज्ञप्तानि ?

उत्तर—एवं:

चतुःषष्टिः असुराणां चतुरशीतिश्च भवति नागानाम् ।
द्वासप्ततिः सुवर्णानां वायु कुमाराणां षण्णवतिः ॥
द्वीप-दिग्-उदधीनां विद्युत्कुमारेन्द्र स्तनिताऽग्नीनाम् ।
षण्णामपि युगलकानां षट्सप्ततिः शतसहस्राणि ॥

प्रश्न—कियन्ति भगवन् ! पृथिवीकायिकावास शतसहस्राणि प्रज्ञप्तानि ?

उत्तर—गौतम ! असंख्यति पृथिवीकायिकावास शतसहस्राणि प्रज्ञप्तानि । यावद् असंख्येयानि ज्योतिषिक विमानावास शतसहस्राणि प्रज्ञप्तानि ।

प्रश्न—सौधर्मे भगवन् ! कल्पे कियन्तो विमानावास प्रज्ञप्ताः ?

उत्तर—गौतम ! द्वात्रिंशद् विमानावस शतसहस्राणि प्रज्ञप्तानि । एवं:—

द्वात्रिंशद्-अष्टविंशतिर्द्वादशाष्ट-चत्वारि शतसहस्राणि ।
पञ्चाशत्-चत्वारिंशत् षट् च सहस्राणि सहस्रारे ॥

अनुक्रम से बत्तीस लाख, अट्ठाईस लाख, बारह लाख, आठ लाख, चार लाख, पचास हजार, चालीस हजार विमानावास जानने चाहिए। छह हजार विमानावास सहस्रार देवलोक में हैं। आनत और प्राणत कल्प में चार सौ, आरण और अच्युत में तीन सौ, इन चारों में मिला कर सात सौ विमान हैं। एक सौ ग्यारह विमानावास अधस्तन (निचले ग्रैवेयक) में, एक सौ सात बीच के में, और एक सौ उपर के ग्रैवेयक में हैं। अनुत्तर विमान पाँच ही हैं।

व्याख्यान

श्री गौतम स्वामी ने भगवान महावीर से प्रश्न किया— प्रभो! आपने अपने ज्ञान में देखकर कितनी पृथ्वियाँ कहीं हैं।

चौथे उद्देशक के अन्त में सर्वज्ञ संबंधी प्रश्नोत्तर थे और उसके पश्चात् पाँचवें उद्देशक की आदि में नरक-पृथ्वी संबंधी प्रश्न किया गया है। यहाँ यह देखना चाहिए कि सर्वज्ञ सम्बन्धी प्रश्नोत्तर के साथ नरक-पृथ्वी के प्रश्नोत्तर में क्या कुछ संबंध है? ऊपरी दृष्टि से देखा जाय तो सर्वज्ञ विषयक प्रश्नोत्तर एवं पृथ्वी संबंधी प्रश्नोत्तर परस्पर असंबद्ध से प्रतीत हो रहे हैं। इस विषय में टीकाकार का कथन है कि यह दोनों प्रश्नोत्तर

प्रश्न—भगवन् ! असुर कुमारों के कितने लाख आवास हैं ?

उत्तर—गौतम ! इस प्रकार हैं—असुर कुमारों के चौंसठ लाख आवास कहे हैं। इसी प्रकार नागकुमारों के चौरासी लाख, सुवर्णकुमारों के बहत्तर लाख, वायुकुमारों के छयानवे लाख तथा द्वीपकुमार, दिक्कुमार, उदधिकुमार, विद्युतकुमारेन्द्र, स्तनित कुमार और अग्निकुमार, इन छह युगलकों के छियत्तर लाख आवास कहे हैं।

प्रश्न—भगवन् ! पृथ्वीकायिकों के कितने लाख आवास कहे हैं ?

उत्तर—गौतम ! पृथ्वीकायिकों के असंख्यात लाख आवास कहे हैं और इसी प्रकार यावत्-ज्योतिष्क देवों के असंख्यात लाख विमानावास कहे हैं।

प्रश्न—भगवन् ! सौधर्म कल्प में कितने विमानावास कहे हैं ?

उत्तर—गौतम ! वहां बत्तीस लाख विमानावास कहे हैं। इस प्रकार:—

लाज रखोगे या नहीं ? जिस पगड़ी के बिना काम चल सकता है, उसकी लाज रखने की तो चिन्ता करते हो लेकिन जिस पृथ्वी पर स्वयं रहते हो और जिस पृथ्वी पर 'जिन' भी रहते हैं, उसकी लाज रखने की चिन्ता क्यों नहीं करते ?

गौतम स्वामी ने चौथे उद्देश्य के अन्त में आधेय का प्रश्न किया था और इस पाँचवे उद्देशक के आरंभ में आधार का प्रश्न किया है। बहुत से लोग आधार का महत्व ही नहीं समझते। कई जैनधर्मी भी कहते हैं कि यह तो पृथ्वीकाय का जीवन है, इसमें क्या धरा है ? लेकिन अगर पृथ्वीकाय में कुछ न होता तो गौतम स्वामी भगवान से प्रश्न ही क्यों करते ?

यह पृथ्वी आधार है और इस पर रहने वाले आधेय हैं। भगवान ने शास्त्र में कहा है—'पाढ़वं शरीरं।' अर्थात् यह शरीर पार्थिव है—पृथ्वी से पैदा होने वाला है।

एक प्रश्न पर विचार कीजिए—आप अपनी माँ के बेटे हैं या पृथ्वी के ? माँ और पृथ्वी में कौन बड़ी है ? शास्त्र में शरीर को पार्थिव कहा है। इस कथन द्वारा माता का उपकार भुलाया नहीं है किन्तु बढ़ाया है क्योंकि माँ का शरीर भी पृथ्वी से ही बना हुआ है शरीर में आने वाला एक-एक श्वास भी पृथ्वी का ही है। माता को न भूलना तो गुण है ही लेकिन पृथ्वी को भूल जाना कृतघ्नता है। माता बालक को नौ मास तक अपने पेट में रखती है लेकिन आखिर वह पेट में रखकर

असंबद्ध नहीं है किन्तु प्रस्तुत पृथ्वी संबंधी प्रश्न सर्वज्ञ विषयक प्रश्नोत्तर से संबंध रखता है। वह संबंध यह है कि सर्वज्ञ पृथ्वी पर ही होते हैं अथवा पृथ्वीकाय रूप गति से निकल कर मनुष्यभव पाकर ही अर्हन्त-सर्वज्ञ होते हैं। अतएव सर्वज्ञ और पृथ्वी का संबंध है।

'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी।'

अर्थात्—जननी और जन्मभूमि स्वर्ग से भी अधिक चढ़कर हैं।

जिसने जन्मभूमि के महत्व पर विचार किया है, वह इस बात को अवश्य ही स्वीकार करेगा कि अर्हन्त भी इसी भूमि पर होते हैं।

संसार में बिना पगड़ी के, बिना जूते के और बिना कपड़े के काम चल सकता है। इसके अभाव में कोई काम नहीं रुकता। साधु न पगड़ी बांधते हैं और न जूतें ही पहनते हैं। कई जिनकल्पी महात्मा कपड़े भी नहीं पहनते। इस प्रकार इनके अभाव में काम चलते तो देखा जाता है लेकिन क्या कोई ऐसा भी है जो पृथ्वी की सहायता के बिना—पृथ्वी का आश्रय लिये बिना रहता हो? 'नहीं।'

फिर पगड़ी की तो लाज रखते हो, पगड़ी की प्रतिष्ठा बनाये रखने की चिन्ता करते हो मगर इस पृथ्वी की भी

कई लोग तप करते हैं मगर अज्ञान के कारण क्रोध किया करते हैं। उन्हें यह विचार नहीं होता कि मैंने दया के लिए तप किया है और अब क्रोध करके किसी का आत्मा दुखाऊँगा तो दया कहाँ रहेगी? यहाँ यह कहा जा सकता है कि तप संवर और निर्जरा के लिए कहा गया है, फिर यहाँ दया के लिए क्यों कहते हैं? इसका उत्तर यह है कि संवर और निर्जरा भी वस्तुतः स्वदया ही है। अतएव दया के लिए तपस्या करना असंगत नहीं है।

लोग घर में माल होने पर किवाड़ खुले नहीं रखते। हाँ घर में कुछ न हो तो भले ही रखते हैं। इस प्रकार तप रूपी धन को क्रोध रूपी चोर न चुरा ले जावे, इसके लिए क्षमा और शान्ति रूपी किवाड़ सदा बन्द रक्खो। निन्दा एव क्रोध आदि से तप का महत्व घट जाता है। करोड़ों वर्षों का तप भी क्रोध की आग में भस्मीभूत हो जाता है। इसलिए तप को करुणा, दया और क्षमा की पेटी में बंद रक्खो। ऐसा करने पर अभूतपूर्व और अद्भुत आनंद प्राप्त होगा। जैसे वायु के बिना अग्नि प्रज्वलित नहीं होती किन्तु बुझ जाती है इसी प्रकार बिना क्षमा के तप भी नहीं ठहरता।

अब मूल बात पर आइए। पृथ्वी का उपकार सब पर है। क्या जैन और क्या वैष्णव—सभी एक स्वर से यह बात स्वीकार करते हैं। यह पृथ्वी माता है। माता को नंगी करने के लिए अगर कपड़े खींचे जाएँ तो यह देख कर किसका

आप लोग तप करते हैं लेकिन पारणा करते समय क्या यह भी सोचते हैं कि यह अन्न हमने क्यों त्यागा था? क्रोध, लोभ आदि के कारण अन्न त्यागकर कोई संथारा ही क्यों न करले तो भी भगवान ने उसे विराधक कहा है। आराधक नहीं कहा। इसलिए तपस्या में क्रोधादि के कारण अन्न नहीं त्यागा जाता किन्तु दया के लिए त्यागा जाता है। दया के लिए और साथ ही निर्जरा के हेतु। तप करके पारणे के समय यह विचारना उचित है कि अब मैं अन्न से अपना ही पेट न भरूँ किन्तु दूसरों को भी दान दूँ। अगर सुपात्र-दान का अवसर मिल जाय तब तो कहना ही क्या है। क्योंकि सुपात्र बिना बुलाये तो आते हैं मगर बुलाने पर नहीं आते। दान के प्रति प्रेम हो तो हृदय में यह विचार होगा ही कि कोई सुपात्र आ जाय तो मेरा कल्याण हो जाय, या कोई अन्न के बिना दुखी तो नहीं हो रहा है। जो लोग अतिथिसत्कार के बिना खाते हैं, उनके विषय में कहा गया है—

> तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एवं सः।
> भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥

श्रीकृष्ण कहते हैं कि जो केवल इन्द्रियों के लिए ही खाता पीता है वह पाप का खाना है और उसका जीना वृथा है। जिसने दिया है, उसकी संभाल किये बिना खाना चोरी का खाना है।

कई लोग तप करते हैं मगर अज्ञान के कारण क्रोध किया करते हैं। उन्हें यह विचार नहीं होता कि मैंने दया के लिए तप किया है और अब क्रोध करके किसी का आत्मा दुखाऊँगा तो दया कहाँ रहेगी? यहाँ यह कहा जा सकता है कि तप संवर और निर्जरा के लिए कहा गया है, फिर यहाँ दया के लिए क्यों कहते हैं? इसका उत्तर यह है कि संवर और निर्जरा भी वस्तुतः स्वदया ही है। अतएव दया के लिए तपस्या करना असंगत नहीं है।

लोग घर में माल होने पर किवाड़ खुले नहीं रखते। हाँ घर में कुछ न हो तो भले ही रखते हैं। इस प्रकार तप रूपी धन को क्रोध रूपी चोर न चुरा ले जावे, इसके लिए क्षमा और शान्ति रूपी किवाड़ सदा बन्द रक्खो। निन्दा एवं क्रोध आदि से तप का महत्त्व घट जाता है। करोड़ों वर्षों का तप भी क्रोध की आग में भस्मीभूत हो जाता है। इसलिए तप को करुणा, दया और क्षमा की पेटी में बंद रक्खो। ऐसा करने पर अभूतपूर्व और अद्भुत आनंद प्राप्त होगा। जैसे वायु के बिना अग्नि प्रज्वलित नहीं होती किन्तु बुझ जाती है इसी प्रकार बिना क्षमा के तप भी नहीं ठहरता।

अब मूल बात पर आइए। पृथ्वी का उपकार सब पर है। क्या जैन और क्या वैष्णव—सभी एक स्वर से यह बात स्वीकार करते हैं। यह पृथ्वी माता है। माता को नंगी करने के लिए अगर कपड़े खींचे जाएँ तो यह देख कर किसका

[illegible]

[illegible] ... भी होता है। ऐसी दशा में हम आज के विज्ञान की मानें या इन महापुरुषों के अनुभव, पूर्ण और यथार्थ ज्ञान की मानें? आज के वैज्ञानिक विज्ञान चाहे जानने की कोशिश करना इसका ध्येय तो काफ़ी-आश्चर्यजनक ही है। इसके अतिरिक्त बड़े से बड़ा वैज्ञानिक भी जड़ प्रकृति के सम्पूर्ण रहस्यों को नहीं जानता। जड़ प्रकृति को जानने में भी अभी उसे न मालूम कितना समय लगेगा। और कौन कह सकता है कि वह कभी पायेगा या हमेशा ही उसके लिए जानना शेष रहेगा। जब जड़ प्रकृति की यह बात है तो सूक्ष्मतम आत्मा तो बड़ी दूर की

[illegible] है। यह वेदों की पकड़ में नहीं आती, पुराणों में भी यह [illegible] नहीं सकती है। इसलिए [illegible] करके ही वैज्ञानिक [illegible] की सहायता से आत्मा की उपलब्धि नहीं कर सकता। आत्मा के दर्शन के लिए तो इंद्रियों को मोड़ [illegible] [illegible] होगा और [illegible] में [illegible] भी [illegible] प्राप्त करनी होगी तभी आत्मा का [illegible] प्रकाश आविर्भूत होगा और [illegible] प्रकार से आत्मा का साक्षात्कार हो सकेगा। इस प्रकार अपना साक्षात्कार करने वाला महान् वैज्ञानिक ही हमारा [illegible] हो सकता है।

हमें आत्मोन्नति करनी है। एक मात्र आत्म-विकास ही हमारे जीवन का एक और अन्तिम ध्येय है। काम-क्रोध आदि की [illegible] हमारे अहं की तृप्ति से [illegible] नहीं हो सकती। आधुनिक विज्ञान के आविष्कारों से [illegible] [illegible] आत्मोन्नति नहीं हो सकती। [illegible] में सन्देह करने का कोई कारण नहीं है कि दूसरे मार्ग से [illegible] [illegible] मनुष्य होगा और पूर्णता प्राप्त करता है।

अपनी पिछली पीढ़ी से स्वाभाविक प्रेम होता है। याद [illegible] पूर्वजों की [illegible] और [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] से नहीं [illegible] [illegible] यह संसार का नियम है [illegible] अवस्था में जिन पूर्वजों के [illegible] में से [illegible] निकले हैं, उन पूर्वजों के [illegible] पर कितना प्रेम होना चाहिए?

टीकाकार कहते हैं—मैंने अपनी तरफ से तो यह सा
दी ही है कि पृथ्वी का और पूर्ण पुरुष का संबंध है, अ
इस पाँचवें उद्देशक में पृथ्वी का वर्णन किया है लेकि
एक साक्षी शास्त्र की भी है। पहले शतक के आरंभ में
संग्रह गाथा कही गई है, उसमें यह उल्लेख किया गया है
पाँचवें उद्देशक में पृथ्वी संबंधी प्रश्नोत्तर किये गये हैं।

श्री गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में भगवान महा
फर्माते हैं--पृथ्वी सात कही गई हैं।

यद्यपि पृथिवियाँ आठ भी मानी गई हैं, लेकिन गौ
स्वामी के प्रश्न का जो अभिप्राय है, उसे जानकर भगवान
सात ही बतलाई है, क्योंकि आगे गौतम स्वामी पृथ्वी सम्ब
और आन्तरिक प्रश्न भी पूछेंगे। जिस प्रकार राजा अ
राज्य के घरों की गणना करता है, उसी प्रकार आगे पृ
पर के घरों की गणना भी बतलाई जायगी। छोटे-से र
का स्वामी अपने छोटे राज्य के घरों की गणना करता
परन्तु भगवान समस्त लोक के स्वामी हैं, अतः वे
संसार के घरों की गणना करेंगे।

सिद्धशिला की पृथ्वी आठवी है लेकिन भगवान ने
पृथ्वी की विवक्षा न कर के सात ही पृथ्वियाँ बतलाई हैं।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि पृथ्वी एक ही है
लौकिक भूगोल शास्त्र भी एक ही पृथ्वी बतलाता है, फिर

पृथ्वियाँ कैसे कही गई हैं ? मगर लौकिक भूगोल शास्त्र का यह वर्णन अगर सत्य होता तो गौतम स्वामी को भगवान से यह प्रश्न करने की आवश्यकता न होती। प्रचलित भूगोल की बात असत्य होने के कारण ही तो गौतम स्वामी को सर्व-साधारण की भ्रमणा मिटाने के लिए यह प्रश्न पूछना पड़ा है। इसी कारण भगवान ने उत्तर भी दिया है कि पृथ्वियाँ सात हैं। इनमें से एक प्रत्यक्ष है और छह अप्रत्यक्ष हैं।

चौदह राजू लोक का जैन शास्त्र में बहुत वर्णन है। अन्य लोगों ने भी चौदह राजू लोक को भुवन-तयक आदि के नाम से स्वीकार किया है। चौदह राजू लोक को तुलसीदासजी ने चौदह भुवन मानकर कहा है:—

चौदह भुवन एक पति होई।

चौदह राजू लोक के नक्शे में क्रम से सात पृथिवियां बतलाई हैं। उनमें से हम लोग केवल एक पृथ्वी देख सकते हैं, शेष नहीं।

अहमदनगर में एक जैन वकील हैं। अब तो वे जैनधर्म को सर्वोत्कृष्ट मानते हैं परन्तु जब वे कॉलेज से नये-नये निकले थे, तब जैनधर्म को कुछ समझते ही नहीं थे। जब उन्होंने सूयडांग सूत्र का अध्ययन किया, तब कहने लगे सूयडांग में जैसा उत्कृष्ट उपदेश है वैसा अन्यत्र हो नहीं सकता।

पृथ्वी दिखाई देती है, यह भी रत्नगर्भा कहलाती है। जिसके गर्भ में रत्न हो, उसे रत्नगर्भा कहते हैं। स्त्री के गर्भ में जब कोई महापुरुष आया होता है तो उसे रत्नकुंभधारिणी कहते हैं। इसी प्रकार इस पृथ्वी में भी ऐसे-ऐसे रत्न हैं कि उनका पार नहीं।

जैन शास्त्रों में रत्नप्रभा पृथ्वी के तीन हिस्से किये हैं-रत्नकाण्ड, जलकाण्ड और पंककाण्ड। रत्नकाण्ड में नरकावास की जगह छोड़कर दूसरी जगह अनेक रत्न होते हैं; जिनकी प्रभा पड़ती रहती है। इस कारण पहली पृथ्वी का नाम रत्नप्रभा पड़ा है। इसी प्रकार शेष पृथिवियों के नामों की भी उत्पत्ति समझ लेना चाहिए। सातवीं पृथ्वी पर घोर अंधकार है, इसलिए उसका नाम तमस्तमःप्रभा या महातमःप्रभा है।

इसके पश्चात् गौतम स्वामी पूछते हैं--भगवन्! रत्नप्रभा पृथ्वी में कितने लाख नरकावास हैं? अर्थात् नरक-स्थान कितने है?

यहाँ 'इससे' शब्द आया है, जो उंगली-निर्देश को सूचित करता है। अर्थात् गौतम स्वामी जिस पृथ्वी पर थे, उसी पृथ्वी को बताकर कहते हैं कि इस पृथ्वी में कितने नरकावास हैं?

प्रश्न होता है—जिस पृथ्वी पर गौतम स्वामी रहते थे, उसी पृथ्वी पर हम भी रहते हैं। फिर यह पृथ्वी क्या नरक

क्या हम नरक पर हैं ?

लोग नरक से डरते हैं, नरक के नाम से घबराते हैं और
नरक में रहना सुनकर अपना अपमान अनुभव करते हैं
लेकिन जैन शास्त्र कहते हैं कि यह पृथ्वी, रत्नप्रभा पृथ्वी
ही ऊपरी तल है। नरक भी इसी पृथ्वी में है। इस पृथ्वी
भीतर ही भीतर तह चली गई है, जिनका हिसाब
अन्तर और तेरह प्रस्तर के नाम से बहुत अधिक है।

जैसे शरीर में नाभि मध्यभाग में है, इसी प्रकार यह
प्रभा पृथ्वी भी मध्य में है। लेकिन मध्यभाग की सीमा
ही पड़ेगी। जैसे नाभि के ऊपर मस्तक और नीचे पाँव
है, उसी प्रकार रत्नप्रभा भूमि का यह भाग नाभि है,
ऊपर का भाग स्वर्ग और नीचे का भाग नरक है। शास्त्र
है कि यह भाग है तो इसी पृथ्वी का, लेकिन इस भाग
की विशेषता यह है कि स्वर्ग भी इसका दास है। स्वर्ग
में यहाँ से जाया जाता है। जैसे एक विस्तीर्ण भूभाग
परिपूर्ण हो और बीच में सिर्फ एक छोटा-सा टापू
वह सारा प्रदेश जलप्रदेश ही कहलाएगा। अर्थात्
के अनुसार ही प्रायः व्यवहार होता है। यही बात
के सम्बन्ध में भी समझनी चाहिए। पहले नरक
एक लाख, अस्सी हजार योजन है और लम्बाई-
राज है। अन्त में दस योजन का एक हिस्सा बच

पर मनुष्य और तिर्यञ्च बसते हैं। यह हिस्सा भी उसी पृथ्वी का है।

आप कहते होंगे--क्या हम नरक पर बसते हैं? लेकिन साफ-सुथरे रहने पर भी आपका जीवन किस आधार पर टिका हुआ है?

'मल-मूत्र पर!'

उस मल-मूत्र को भी तो नरक ही कहते हैं। अगर मल-मूत्र एक मिनिट के लिए ही सूख जाय तो मनुष्य-जीवित नहीं रह सकता। मनुष्य का जीवन अतर पर नहीं वरन् मल-मूत्र पर निर्भर करता है। फिर भी अगर कोई यह बात कहता है तो सुनने वालों को बुरा लगता है। मगर इससे सच्चाई कैसे बदल सकती है? सत्य तो सत्य ही है, चाहे किसी को वह पसन्द हो या नहीं। अतएव यह भूमि--रत्नप्रभा नरक के तल पर है, ऐसा मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

गौतम स्वामी ने रत्नप्रभा पृथ्वि के विषय में पूछते हुए 'इमीसे' कहा है, लेकिन अन्य पृथिवियों के सम्बन्ध में प्रश्न करते समय इस शब्द का प्रयोग नहीं करेंगे। 'इमीसे' कहकर गौतम स्वामी ने मनुष्यों को यह बतलाया है कि गर्व न करो। हम सब नरक पर ही बसे हैं। ज्ञानी जन असली बात नहीं भूलते, इसी कारण गौतम स्वामी ने 'इमीसे' कहा है।

गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में भगवान ने फर्माया—"हे गौतम! इस रत्नप्रभा पृथ्वी में तीस लाख नरकावास हैं।"

नरकावास के विषय में पूछने के साथ ही और सब जीवों के वास के सम्बन्ध में भी भगवान से गौतम स्वामी ने प्रश्न किये हैं। यह बड़े घर का इतिहास है। कहाँ नरक और जल के जीव और कहाँ जगत् के नाथ भगवान? फिर भी, गौतम स्वामी ने उन सब के विषय में प्रश्न किये और भगवान ने सब प्रश्नों के उत्तर दिये।

अगर कोई राजा अपने राज्य के घरों की गणना करेगा तो केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि सवर्णों के घर ही गिनेगा या सभी प्रजा के घर गिनेगा? अगर वह भंगी के घरों को गिनना छोड़ देता है तो उसके राजतंत्र में त्रुटि आजायगी। ऊंच नीच का भेदभाव लोगों में भले रहे, मगर जब गणना होगी तब सभी की गणना होगी। हाँ, भेद विचार तो सभी जगह रहेगा लेकिन अभेद विचार से सब की गणना हो जाती है और सब जीवों की गणना करके भगवान ने सबके साथ प्रीति जोड़ी है।

यह विचारणीय बात है कि गणधर भगवान ने इन सब जीवों का हिसाब क्यों लगाया है? नरक के जीवों के रहने के स्थान कितने ही हों, उन्हें इनसे क्या प्रयोजन था? लेकिन जो बात की बारीकी को समझता है, वह सब लोगों को अपने

हाथ में कर लेता है। वह सब से प्रेम रखता है। इसी प्रकार ज्ञानियों ने सब जीवों को अपने हाथ में कर रक्खा है। उन्होंने यह हिसाब लगाकर स्वर्ग के जीवों को नरक के जीवों से प्रेम करवाया है। इसलिए ऊपरी भेदभाव को भूलकर आत्मतत्व का विचार करना चाहिए।

रत्नप्रभा पृथ्वी के नीचे पहली नरक भूमि है। उसमें नरक वासों की संख्या तीस लाख है। समस्त पृथिवियों में कितने-कितने नरकवास हैं, यह बताने के लिए एक संग्रहगाथा दी गई है। उसका अर्थ यह है कि पहली पृथ्वी में तीस लाख नरकावास हैं, दूसरी में पच्चीस लाख, तीसरी में पन्द्रह लाख, चौथी में दस लाख, पाँचवी में तीन लाख, छठी में पांच कम एक लाख और सातवीं में केवल पांच अनुत्तर नरकावास हैं।

पहली रत्नप्रभा पृथ्वी में जो तीस लाख नारकावास हैं, उनमें से कई असंख्यात योजन लम्बे-चौड़े और कई संख्यात योजन लम्बे-चौड़े हैं। संख्यात योजन लम्बे-चौड़े नरकावासों में संख्यात जीव रहते हैं और असंख्यात योजन लम्बे-चौड़े नारकावासों में असंख्यात जीव रहते हैं।

प्राणियों के चार विभाग हैं—(१) नरक योनि के प्राणी (२) तिर्यञ्च योनि के प्राणी (३) मनुष्य योनि के प्राणी और देवयोनि के प्राणी। पाँचवां भेद सिद्धों का भी है लेकिन उनकी

णना संसारी प्राणियों में नहीं है और यह चार भेद संसारी
ीवों के हैं।

सातों भूमियों के नरकावास मिल कर सब चौरासी लाख
ोते हैं। जीवयोनी भी चौरासी लाख हैं और नरकावास भी
चौरासी लाख हैं।

पहली पृथ्वी में प्रस्तर और अन्तर कहे गये हैं। पोलार
को अन्तर कहते हैं और ऊपर की मंजील को प्रस्तर कहते हैं।
इस भूमि में बारह अन्तर हैं और तेरह प्रस्तर हैं। इनमें से
दस अन्तरों में दस प्रकार के भवनवासी देव रहते हैं। भवन-
वासी देवों के रहने को दिशा दक्षीण और उत्तर है। दक्षिण
दिशा में रहने वाले भवनवासी असुर कुमारों के चौंतीस
लाख भवन हैं और उत्तर दिशा में रहने वालों के तीस
लाख भवन हैं। इसी प्रकार नाग कुमार आदि के
आवास हैं। सब मिला कर सात करोड़ बहत्तर
लाख भवन भवनपतियों के हैं। दण्डक की गणना से
पृथ्वीकायादि जीवों का हिसाब भी आता है। पृथ्वीकाय,
अपकाय, तेजस्काय वायुकाय और वनस्पति काय, यह पाँच
स्थावर जीव हैं। इनके भी असंख्य-असंख्य स्थान हैं। इनके
पश्चात् दो इन्द्रिय वाले त्रस जीव हैं। ऐसे जीवों की दो लाख
जातियाँ हैं और इनके रहने के भी असंख्य स्थान हैं। जिनके
स्पर्शन, रसना और घ्राण—यह तीन इन्द्रियाँ हैं, ऐसे त्रीन्द्रिय

पहले हिस्से में एकसौ ग्यारह, दूसरे में एकसौ सात और तीसरे में एक सौ विमान हैं। इन तीनों हिस्सों के नाम क्रमशः अध-स्तन, मध्यम और उपरितन हैं। इनके ऊपर पाँच अनुत्तर विमान हैं। इस प्रकार सब मिलाकर चौरासी लाख, सत्तानवें हजार, तेईस विमान हैं।

भगवान ने गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में संसार के जीवों के रहने के स्थान कितने हैं, यह बतलाया है। जब राज्य के घरों की गणना होती है तो उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ— इस प्रकार सभी घरों की गणना की जाती है। एक बड़ा महल, जिसमें बहुत से व्यक्ति रहते हैं, वह भी एक ही घर माना जाता है और जिसमें एक ही मनुष्य रहता है, ऐसा छोटा झोंपड़ा भी एक ही माना जाता है। यह बात तो सभी आज के वैज्ञानिक एवं प्राच्यविद्या के जानने वाले मानेंगे कि यह शास्त्र आज के विज्ञान से नहीं लिखे गये हैं। ज्ञानियों के ज्ञान से लिखे गये शास्त्रों में भी, जैसा कि राजा द्वारा कराई जाने वाली गणना में महल और झोंपड़ा एक ही माना जाता है, उसी तरह असंख्य योजन का विमान भी एक ही माना जाता है और पृथ्वीकाय के जीवों के रहने का छोटा-सा स्थान भी एक ही माना गया है। कीड़े-मकोड़े आदि सब के स्थानों की गणना इसमें आ गई है और यह हिसाब बतलाया गया है कि त्रिलोक के प्राणियों के रहने के स्थान कितने हैं।

अब यह प्रश्न होता है कि इन कीड़ों-मकोड़ों आदि स्थान जानने से क्या लाभ है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि बात किसी राजा से जाकर पूछो कि तुम अपने राज्य के ों की गणना क्यों कराते हो? अगर दस-पच्चीस झोंपड़े धिक हुए तो क्या और कम हुए तो क्या? इसके उत्तर में जा यही कहेगा कि राज्य के घरों की गणना कराने के भ राजनीतिज्ञ ही जान सकते हैं। इसी प्रकार त्रिलोकी के ों की गणना में भी बहुत तत्व भरा है। इसमें क्या तत्व यह बात ज्ञानी ही जानते हैं।

केवल पुस्तकें पढ़ लेना ही ज्ञान नहीं है। अध्यात्म शास्त्र अनुसार ज्ञान क्या है, यह बात समझने योग्य है। गीता भी ज्ञान की परिभाषा कुछ और ही बतलाई है। पढ़ना या पढ़ना ज्ञान या अज्ञान नहीं है। गीता में कहा है:—

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः॥
इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहङ्कार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्॥
असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यञ्च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु॥
मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि॥
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा॥
—गीता अध्याय,

पहले हिस्से में एकसौ ग्यारह, दूसरे में एकसौ सात और तीसरे में एक सौ विमान हैं। इन तीनों हिस्सों के नाम क्रमशः अधस्तन, मध्यम और उपरितन हैं। इनके ऊपर पाँच अनुत्तर विमान हैं। इस प्रकार सब मिलाकर चौरासी लाख, सत्तानवें हजार, तेईस विमान हैं।

भगवान ने गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में संसार के जीवों के रहने के स्थान कितने हैं, यह बतलाया है। जब राज्य के घरों की गणना होती है तो उत्तम, मध्यम और कनिष्ट— इस प्रकार सभी घरों की गणना की जाती है। एक बड़ा महल, जिसमें बहुत से व्यक्ति रहते हैं, वह भी एक ही घर माना जाता है और जिसमें एक ही मनुष्य रहता है, ऐसा छोटा झोंपड़ा भी एक ही माना जाता है। यह बात तो सभी आज के वैज्ञानिक एवं प्राच्यविद्या के जानने वाले मानेंगे कि यह शास्त्र आज के विज्ञान से नहीं लिखे गये हैं। ज्ञानियों के ज्ञान से लिखे गये शास्त्रों में भी, जैसा कि राजा द्वारा कराई जाने वाली गणना में महल और झोंपड़ा एक ही माना जाता है, उसी तरह असंख्य योजन का विमान भी एक ही माना जाता है और पृथ्वीकाय के जीवों के रहने का छोटा-सा स्थान भी एक ही माना गया है। कीड़े-मकोड़े आदि सब के स्थानों की गणना इसमें आ गई है और यह हिसाब बतलाया गया है कि त्रिलोक के प्राणियों के रहने के स्थान कितने हैं।

अब यह प्रश्न होता है कि हमें इन कीड़ों-मकोड़ों आदि के स्थान जानने से क्या लाभ है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि यह बात किसी राजा से जाकर पूछो कि तुम अपने राज्य के घरों की गणना क्यों कराते हो? अगर दस-पच्चीस झौंपड़े अधिक हुए तो क्या और कम हुए तो क्या? इसके उत्तर में राजा यही कहेगा कि राज्य के घरों की गणना कराने के लाभ राजनीतिज्ञ ही जान सकते हैं। इसी प्रकार त्रिलोकी के घरों की गणना में भी बहुत तत्व भरा है। इसमें क्या तत्व है, यह बात ज्ञानी ही जानते हैं।

केवल पुस्तकें पढ़ लेना ही ज्ञान नहीं है। अध्यात्म शास्त्र के अनुसार ज्ञान क्या है, यह बात समझने योग्य है। गीता में भी ज्ञान की परिभाषा कुछ और ही बतलाई है। पढ़ना या न पढ़ना ज्ञान या अज्ञान नहीं है। गीता में कहा है:—

अमानित्व मदम्भित्वमहिंसाक्षान्ति रार्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः॥
इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहङ्कार एव च।
जन्ममृत्यु जराव्याधि दुःख दोषानुदर्शनम्॥
असक्तिरनभिष्वङ्ग पुत्रदार गृहादिषु।
नित्यञ्च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु॥
मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्त देशसेवित्व मरतिर्जनसंसदि॥
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्वज्ञानार्थदर्शनम्।
तज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा॥

—गीता

आशय यह है कि जिसके प्राप्त होने पर अभिमान गल जाय वह ज्ञान है और जिसके प्राप्त होने से अभिमान में वृद्धि हो वह अज्ञान है। जिसके सेवन से रोग निवृत्त हो जाय वह औषध है और जिसके सेवन से रोग बढ़े, वह दवाई नहीं—कुपथ्य है। इसी प्रकार ज्ञान की कसौटी अभिमान का क्षीण होना है। चाहे पोथी पढ़ी हो या न पढ़ी हो, लेकिन जिसमें अभिमान नहीं है वह ज्ञानी है और पढ़ने पर भी जिस पर अभिमान का भूत सवार है वह अज्ञानी है। इसी प्रकार दंभ का त्याग, अहिंसा, क्षमा, आर्जव (सरलता) आचार्य की उपासना, पवित्रता, स्थिरता, आत्मनिग्रह, इन्द्रियों के भोगोपभोग के प्रति विरक्ति, अहं-मत्व न रखना, जन्म-मरण व जरा रूप रोगों को दुःखरूप समझना और उनके दोषों को देखना, आसक्ति न होना, पुत्र कलत्र-गृह आदि में गृद्धि न होना, इष्ट और अनिष्ट विषयों में सदैव समभाव होना, ईश्वर में अनन्यभाव से अव्यभिचारिणी भक्ति होना, एकान्त में वास करना, जनता के संसर्ग में अरुचि होना, नित्य अध्यात्मज्ञान होना, तत्वज्ञान प्राप्त करना, यह सब ज्ञान के लक्षण हैं। इस से विपरीत लक्षण होना अज्ञान है।

ऊंचे चढ़ने पर बड़ी चीज़ भी छोटी दिखने लगती है। यद्यपि वह वस्तु इतनी छोटी नहीं है—पहिले की अपेक्षा तो वह तनिक भी छोटी नहीं हुई है लेकिन ऊपर चढ़ा होने के कारण दृष्टि में विकार आ जाता है और बड़ी चीज़ भी छोटी

इस पत्ते पर यह बात किसने लिखी है, इसका पता लगाना चाहिए। आखिरकार अनुमान किया गया कि आँधी में उड़ कर यह पत्ता पहाड़ से आया है तो उस पर रहने वाले ज्ञानी पुरुष ने यह वाक्य लिखा होगा। वह बुद्धिमान पुरुष पत्ता लेकर ज्ञानी के पास गया और उनसे पूछा—क्या आपने ही इस पत्ते पर यह वाक्य लिखा है? ज्ञानी ने कहा—हाँ मैंने ही यह लिखा है।

बुद्धिमान ने पूछा—क्या इस पत्ते पर लिखा वाक्य सही है?

ज्ञानी ने कहा—यह आँख से तो सही है, मगर बुद्धि से सही नहीं है। जो कुछ अनुभव हुआ, वह लिखा है और वह स्थान के साथ सही भी है। यहाँ से तुम किसी घोड़े को देखो तो मालूम होगा कि घोड़ा, कुत्ता-सा दिखाई देता है या नहीं?

इतने में ही पहाड़ के नीचे एक घोड़ा दिखलाई पड़ा। ज्ञानी पुरुष ने घोड़ा बतलाते हुए उन लोगों से पूछा—यह घोड़ा आपको कैसा नज़र आ रहा है?

लोगों ने कहा—जी हाँ, यह तो कुत्ता सा दीख पड़ रहा है।

ज्ञानी ने पूछा—क्या वह वास्तव में कुत्ता है?

सब बोले—नहीं, कुत्ता तो नहीं है।

ज्ञानी ने कहा—तो मेरी बात आँख और स्थान से सही है। हाँ, वह बुद्धि से अवश्य ग़लत है।

मतलब यह है कि आत्मविचार की मलाई की ... के साथ में कूड़ा दबाना और आँखों देखी बात को ही सत्य मानना ठीक नहीं है। ऐसा करना मान लिया है। इससे विचारों का नाश करना आत्महिंसा है।

... कहते हैं, अभिमान का नाश होना ज्ञान का लक्षण है लेकिन गड़बड़ यह हो रही है कि अनेक लोग आज अभिमान को ही ज्ञान मान बैठे हैं। लोग अपनी आँखों को सर्वज्ञ ... और अपने मस्तिष्क को ही सर्वज्ञ समझ रहे हैं। यह ... है कि आत्मा ज्ञानी तभी बनता है, जब वह अभिमान का नाश कर दे। अभिमान का नाश किस प्रकार हो सकता है, यह जानने के लिए पर्वत पर रहने वाले उस ज्ञानी की ओर दृष्टि दौड़ाओ। जैसे पर्वत पर चढ़ने पर नीचे की वस्तु छोटी दिखाई दे और उस समय यह समझना चाहिए कि वस्तु छोटी नहीं है—यह तो मेरा भ्रम है। वस्तु तो वास्तव में बड़ी है। इसी प्रकार अहंमन्यता के पहाड़ पर चढ़कर सब को छोटा मानना अभिमान है और यह विचार करना कि यह मेरा भ्रम है, मैं बड़ा नहीं हूं, अभिमान का नाश करना ... ज्ञानी जनों का कथन है कि हम छोटे-बड़े का भेद सम... अभिमान मिटाने के लिए ही सब जीवों का ठीक-ठीक ... कर रहे हैं।

कदाचित् पहाड़ पर चढ़ा हुआ आदमी अभिमान ... नीचे के लोगों को छोटा भी समझे लेकिन नीचे ... पहाड़ पर चढ़ा हुआ व्यक्ति छोटा दिखाई देगा य...

इस पत्ते पर यह बात किसने लिखी है, इसका पता लगाना चाहिए। आखिरकार अनुमान किया गया कि आँधी में उड़ कर यह पत्ता पहाड़ से आया है तो उस पर रहने वाले ज्ञानी पुरुष ने यह वाक्य लिखा होगा। वह बुद्धिमान पुरुष पत्ता लेकर ज्ञानी के पास गया और उनसे पूछा—क्या आपने ही इस पत्ते पर यह वाक्य लिखा है? ज्ञानी ने कहा—हाँ मैंने ही यह लिखा है।

बुद्धिमान ने पूछा—क्या इस पत्ते पर लिखा वाक्य सही है?

ज्ञानी ने कहा—यह आँख से तो सही है, मगर बुद्धि से सही नहीं है। जो कुछ अनुभव हुआ, वह लिखा है और वह स्थान के साथ सही भी है। यहाँ से तुम किसी घोड़े को देखो तो मालूम होगा कि घोड़ा, कुत्ता-सा दिखाई देता है या नहीं?

इतने में ही पहाड़ के नीचे एक घोड़ा दिखलाई पड़ा। ज्ञानी पुरुष ने घोड़ा बतलाते हुए उन लोगों से पूछा—यह घोड़ा आपको कैसा नज़र आ रहा है?

लोगों ने कहा—जी हाँ, वह तो कुत्ता सा दीख पड़ रहा है।

ज्ञानी ने पूछा—क्या वह वास्तव में कुत्ता है?

सब बोले—नहीं, कुत्ता तो नहीं है।

ज्ञानी ने कहा—तो मेरी बात आँख और स्थान से सही है। हाँ, वह बुद्धि से अवश्य गलत है।

मतलब यह है कि आत्मविचार की सचाई को प्रत्यक्ष के अभाव में झूठ ठहराना और आँखों देखी बात को ही सत्य मानना ठीक नहीं है। ऐसा करना भाव हिंसा है। सच्चे विचारों का नाश करना आत्महिंसा है।

शास्त्र कहते हैं, अभिमान का नाश होना ज्ञान का लक्षण है लेकिन गड़बड़ यह हो रही है कि अनेक लोग आज अभिमान को ही ज्ञान मान बैठे हैं। लोग अपनी आँखों को सर्वदर्शी और अपने मस्तिष्क को ही सर्वज्ञ समझ रहे हैं। यह स्पष्ट है कि आत्मा ज्ञानी तभी बनता है, जब वह अभिमान का नाश कर दे। अभिमान का नाश किस प्रकार हो सकता है, यह जानने के लिए पर्वत पर रहने वाले उस ज्ञानी की ओर दृष्टि दौड़ाओ। जैसे पर्वत पर चढ़ने पर नीचे की वस्तु छोटी दिखाई दे और उस समय यह समझना चाहिए कि वस्तु छोटी नहीं है—यह तो मेरा भ्रम है। वस्तु तो वास्तव में बड़ी ही है। इसी प्रकार अहंमन्यता के पहाड़ पर चढ़कर सब को छोटा मानना अभिमान है और यह विचार करना कि यह मेरा भ्रम है, मैं बड़ा नहीं हूं, अभिमान का नाश करना है। ज्ञानी जनों का कथन है कि हम छोटे-बड़े का भेद समझ कर अभिमान मिटाने के लिए ही सब जीवों का ठीक-ठीक हिसाब कर रहे हैं।

कदाचित् पहाड़ पर चढ़ा हुआ आदमी अभिमान का मारा [illegible] को छोटा भी समझे लेकिन नीचे वालों को [illegible] चढ़ा हुआ व्यक्ति छोटा दिखाई देगा या बड़ा?

'छोटा !'

अब कौन बड़ा और कौन छोटा रहा ? जो दूसरों को अपने से छोटा देखता है, उसे दूसरे लोग अपने से भी छोटा समझते हैं। अभिमानी पुरुष के लिए यह पुरस्कार संभवतः समुचित ही है। मगर ज्ञानी पुरुष कहते हैं--स्थान आदि को छोड़कर देखो तो मालूम होगा कि वास्तव में कौन बड़ा और कौन छोटा है ? जिसके हृदय से अभिमान गया, वही सम्यग्-दृष्टि बन जाता है। ज्ञान होने पर भी अगर कोई सम्यग्दृष्टि नहीं है तो समझना चाहिए कि उसका ज्ञान, अज्ञान--मिथ्या-ज्ञान है। सच्चे ज्ञान के होने पर अभिमान उसी प्रकार गल जाता है, जैसे सूर्य के उदय होने पर तम विलीन हो जाता है।

इस संसार में किन-किन प्राणियों के निवासस्थान हैं, यह बात ऊपर बतलाई गई है। रत्नप्रभा पृथ्वी पर ८४ लाख नर-कावास हैं। उनमें असंख्य नारकी जीव रहते हैं। एक घर में अनेक मनुष्य होने पर भी घर एक ही गिना जाता है, उसी प्रकार एक-एक आवास में असंख्य असंख्य नारकियों का वास होने पर भी आवास एक ही गिना जाता है।

अब गौतम स्वामी यह प्रश्न करते हैं कि चौरासी लाख जीवयोनियों में जैसा ऊंच-नीच का अन्तर है, वैसा इन नारकी जीवों में है या नहीं ? इस सम्बन्ध में गौतम स्वामी जो जो प्रश्न करेंगे, वह दस बातों से सम्बन्ध रक्खेंगे। वह दस बातें एक संग्रहगाथा में बतलाई गई है। मूल पाठ इस प्र है:—

मूलपाठ—

पुढवि ठ्ठिति-ओगाहण-सरीर संघयणमेव संठाणे।
लेस्सा-दिट्ठी-णाणे जोगुव-ओगे य दस ठाणा॥

संस्कृत —छाया

पृथ्वीषु स्थिति-अवगाहना-शरीर-सहननमेव संस्थानम्।
लेश्या-दृष्टि-ज्ञानं योगोपयोगौ च दश स्थानानि॥

शब्दार्थ—

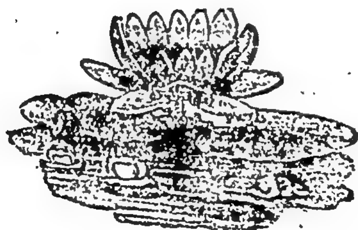
पृथिवियों में स्थित्ति अवगाहना, शरीर, संहनन, संस्थान लेश्या, दृष्टि, ज्ञान, योग और उपयोग इन दस बातों का विचार करना है।

व्याख्यान

आगे चल कर सर्व प्रथम स्थिति (आयु) का विचार करना है फिर अवगाहना का वर्णन करेंगे। अवगाहना का सम्बन्ध शरीर से है, अतः इसके बाद शरीर का वर्णन किया जायगा। फिर शरीर से सम्बन्ध रखने वाले संहनन एवं संस्थान का विचार होगा। संस्थान का अर्थ आकार है। यह आकार भेद लेश्या से होता है, इसलिए फिर लेश्या पर विचार किया जायगा। लेश्या होने पर भी आत्मा का उपयोग अक्षय रह जाता है और कोई प्रकृति पर विजय पाता है,

भी होता है, इस कारण लेश्या के अनन्तर दृष्टि अर्थात् सम्यग् दृष्टि-मिथ्या-दृष्टि का विचार किया जायगा। दृष्टि, ज्ञान से होती है अतएव तत्पश्चात् ज्ञान का वर्णन करेंगे। ज्ञान मन-वचन-काय के योग से वर्तता है, इस कारण फिर योग का वर्णन होगा और फिर ज्ञान, दर्शन और चारित्र के उपयोग का वर्णन होगा।

जैसे लोक में पहले घर गिने जाते हैं, फिर घरों में रहने वाले लोगों को अपने, धर्म, उम्र, पेशा, नाम आदि लिखा जाता है—पूछा जाता है, उसी प्रकार धर्म शास्त्र में भी पहले जीवों के स्थान के विषय में प्रश्नोत्तर किये गये और अब तत् सम्बन्धी विशेष बातों का विचार किया जायगा। अर्थात् उल्लिखित दस बातों की तहकीकात की जायगी।



संसि जहन्निणयाए ठितीए वहमाणा णेरइया किं कोहोवउत्ता, माणोवउत्ता, मायोवउत्ता, लोभोवउत्ता?

उत्तर—गोयमा ! सव्वे वि ताव होज्जा कोहोवउत्ता य। अहवा कोहोवउत्ताय माणोवउत्तेय। अहवा कोहोवउत्ताय, माणोवउत्ताय। अहवा कोहोवउत्ता य मायावउत्तेय । अहवा कोहोवउत्ता य, मायोवउत्ताय । अहवा कोहोवउत्ताय, लोहोवउत्ते य । अहवा कोहोवउत्ता य लोभोवउत्ता य। अहवा कोहोवउत्ता य, माणोवउत्ते य, मायोवउत्ते य। कोहोवउत्ताय, माणोवउत्ते य, मायोवउत्ता य। कोहोवउत्ताय, माणोवउत्ता य, मायोवउत्ता य। एवं कोह-माण-लाभेणवि चउ। एवं कोह-माया-लोभे चउ। एवं १२। पच्छा माणेणं, मायाए, लोभेण य कोहो भयियव्वो। ते कोहं अमुंचता। एवं सत्तावीसा भंगा णेयव्वा।

प्रश्न—इमीसे णं रयणप्पभाए पुढवीए तीसाए निरयावाससयसहस्सेसु एगमेगंसि निरयावासंसि

समयाहियाए जहन्नट्ठितीए वट्टमाणा नेरइया किं कोहोवउत्ता, माणोवउत्ता, मायोवउत्ता लोभोवउत्त?

उत्तर—गोयमा! कोहोवउत्तेय, माणोवउत्ते य, मायोउत्ते य, लोभोवउत्ते य। कोहोवउत्ता य, माणोवत्ता य, मायोउत्ता य, लोभोवउत्ता य। अहवा कोहोवउत्ते य, माणोवउत्ते य। अहवा कोहोवउत्ते य, माणोवउत्ता य। एवं असीतिभंगा नेयव्वा। एवं जाव—संखेज्ज समयहिया ठिती असं. खेज्ज समयाहिया ठिई, तप्पाउग्गु क्कसिथाए ठिईए सत्तावीसं भंगा भाणियव्वा।

संस्कृत—छाया

प्रश्न—एतस्या भगवन्! रत्नप्रभायाः पृथिव्यास्त्रिंशति निरयावासशतसहस्रेषु एकैकस्मिन् निरयावासे नैरयिकाणां कियन्ति स्थितिस्थानानि प्रज्ञप्तानि?

उत्तर—गौतम! असंख्येयानिस्थितिस्थानानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा:-जघन्या स्थितिः समयाधिका, जघन्यास्थितिर्द्विसमयाधिका, यावत्-असंख्येयसमयाधिका जघन्या स्थितिः, तत्प्रायोग्योत्कर्षिका स्थितिः।

[illegible] प्रकार [illegible] भी। ([illegible]
[illegible] होते हैं)

प्रश्न—भगवन् ! इस रत्नप्रभा पृथ्वी के तीस लाख नारकावासों में के एक-एक नारकावास में कम से कम (जघन्य) स्थिति में वर्तमान नारकी क्या क्रोधोपयुक्त हैं ? मानोपयुक्त हैं ? मायोपयुक्त हैं ? या लोभोपयुक्त हैं ?

उत्तर—गौतम ! वे सभी क्रोधोपयुक्त होते हैं। अथवा बहुत-से क्रोधोपयुक्त और एक मानोपयुक्त है, अथवा बहुत से क्रोधोपयुक्त और मानोपयुक्त होते हैं, अथवा बहुत-से क्रोधोपयुक्त और मायोपयुक्त होते हैं, अथवा बहुत-से क्रोधोपयुक्त और मानोपयुक्त होते हैं, अथवा बहुत-से क्रोधोपयुक्त और एक लोभोपयुक्त होता है, अथवा बहुत क्रोधोपयुक्त और लोभोपयुक्त होते हैं। अथवा बहुत क्रोधोपयुक्त, एक मानोपयुक्त और एक मायोपयुक्त होता है, अथवा बहुत क्रोधोपयुक्त एक मानोपयुक्त और बहुत मायोपयुक्त होते हैं, अथवा बहुत क्रोधोपयुक्त तथा बहुत मानोपयुक्त और एक मायोपयुक्त, अथवा बहुत क्रोधोपयुक्त, मानोपयुक्त तथा मायोपयुक्त होते हैं। इस प्रकार क्रोध, मान और लोभ के साथ दूसरे चार भंग करने चाहिए। और इसी प्रकार क्रोध, माया और

लोभ के साथ भी चार भंग करने चाहिए। फिर मान, माया और लोभ के साथ क्रोध द्वारा भंग करने चाहिए। तथा इन सब को, क्रोध को छोड़े बिना इस प्रकार सत्ताईस भंग जानने चाहिए।

प्रश्न—इस रत्नप्रभा पृथ्वी के तीस लाख नरकावासों में के एक-एक नारकावास में एक समय अधिक जघन्य स्थिति में वर्तमान नारकी क्या क्रोधोपयुक्त हैं? मानोपयुक्त हैं? मायोपयुक्त हैं? या लोभोपयुक्त हैं?

उत्तर—गौतम! उनमें कोई-कोई क्रोधोपयुक्त, मानोपयुक्त, मायोपयुक्त और लोभोपयुक्त हैं। अथवा बहुत-से क्रोधोपयुक्त, मानोपयुक्त, मायोपयुक्त और लोभोपयुक्त हैं। अथवा कोई-कोई क्रोधोपयुक्त और मानोपयुक्त, अथवा कोई-कोई क्रोधोपयुक्त और बहुत-से मानोपयुक्त हैं। इत्यादि प्रकार से अस्सी भंग समझने चाहिए। और इसी प्रकार यावत्—संख्येयसमयाधिक स्थिति वाले नारकों के लिए भी जानना। असंख्येयसमयाधिक स्थिति के उचित उत्कृष्ट स्थिति में सत्ताईस भंग कहना चाहिए।

व्याख्यान

पूर्वोक्त दस बातों में से पहले उम्र का विचार किया गया है। उम्र का विचार हुए बिना आयुकर्म की स्थिति की मर्यादा का पता नहीं लग सकता। अतएव गौतम स्वामी भगवान

[illegible] । [illegible] के अनुसार गौतम स्वामी
[illegible] है कि नरक के जीवों की जघन्य स्थिति से उत्कृ
से उत्कृष्ट स्थिति पर्यन्त कितने स्थान-विभाग हैं ?
ने इस प्रश्न का उत्तर दिया है—गौतम ! असंख्यात स्थ

यहाँ प्रश्न खड़ा हो सकता है कि दस हजार वर्ष की
के भेद गिनने में असंख्यात किस प्रकार हो गये ? इस प्रश्
उत्तर यह है कि काल-गणना के लिए विभिन्न देशों में
तरह के विभागों की कल्पना की गई है। यूरोप-निवासि
समय के विभाग को समझने के लिए घण्टे, मिनट और सै
की कल्पना की है। सैकिंड तक पहुँचकर उनकी गति
गई। भारतीय ज्योतिषियों ने घड़ी, पल और विपल में स
का विभाग किया। शायद इससे अधिक सूक्ष्म काल-गण
की लोक-व्यवहार में आवश्यकता नहीं समझी गई होग
अन्यथा सैकिंड के भी विभाग क्यों नहीं किये जा सकते
मगर ज्ञानियों ने सूक्ष्म तत्व का निरूपण करने के उद्देश्य
काल के सूक्ष्मतम अंश का भी निरूपण किया है। काल का स
सूक्ष्मतम अंश, जो निरंश है, जिसका दूसरा अंश संभव नहीं
है, 'समय' कहलाता है। यों तो 'समय' शब्द का सामान्य
लोकप्रचलित अर्थ काल (टाईम) है, मगर यहाँ वह सामान्य
अर्थ नहीं लिया गया है, वरन् पूर्वोक्त विशेष अर्थ ही लिया
गया है। एक सूक्ष्मतम समय में भी अनेक काम हो जाते हैं।
एक समय मात्र में [illegible]

हो जाता है और अनन्तगुण अधिक जीव, अनन्त गुणहीन हो जाता है। एक समय में पुद्गल का एक परमाणु चौदह राजू लोक की यात्रा करके सिद्धशिला तक जा पहुँचता है।

भारत से विलायत जो तार जाता है, वह कुछ ही सैकिंड में चला जाता है। लेकिन वह झट से एक खंभे पर से होकर दूसरे खंभे पर और इसी प्रकार आगे चलता है। इस प्रकार जितने खंभों पर होकर तार जाता है, सैकिंड और मिनट के उतने ही विभाग हो जाते हैं। इसी प्रकार दस हजार वर्ष की स्थिति से नव्वे हजार वर्ष की स्थिति तक असंख्य विभाग-स्थितिस्थान--हो जाते हैं।

कहा जा सकता है कि यह असंख्यात स्थितिस्थान सिद्ध करने से लाभ क्या है? इसका उत्तर यह है कि यह विचार निष्कारण नहीं है। गणधर की बारीक बातों पर विश्वास हो जाय तो स्थूल बातों पर अविश्वास करने कोई कारण नहीं रहेगा। जैसे एक गणितज्ञ के बताये हुए बारीक हिसाब पर विश्वास हो जाने पर स्थूल हिसाब पर अविश्वास नहीं होता, इसी प्रकार अगर कोई कहे कि जैनों के शास्त्रों में जो बात बतलाई गई हैं, जो हिसाब बतलाया गया है, उसकी सत्यता का प्रमाण क्या है? तो उसे संतुष्ट करने के लिए यह हिसाब बतलाया गया है। अगर यह हिसाब सही है और इसके सही होने में कोई भी बाधा नहीं है, तो उन महात्माओं की अन्य-अन्य बातों पर भी विश्वास करना चहिए।

की आवश्यकता है। इसी के अनुसार गौतम स्वामी का यह प्रश्न है कि नरक के जीवों की जघन्य स्थिति से उत्कृष्ट स्थिति से उत्कृष्ट स्थिति पर्यन्त कितने स्थान-विभाग-हैं ? भगवान ने इस प्रश्न का उत्तर दिया है—गौतम ! असंख्यात स्थान हैं।

यहाँ प्रश्न खड़ा हो सकता है कि दस हजार वर्ष की स्थिति के भेद गिनने में असंख्यात किस प्रकार हो गये ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि काल-गणका के लिए विभिन्न देशों में तरह-तरह के विभागों की कल्पना की गई है। यूरोप-निवासियों ने समय के विभाग को समझने के लिए घण्टे, मिनट और सैकिंड की कल्पना की है। सैकिंड तक पहुँचकर उनकी गति रुक गई। भारतीय ज्योतिषियों ने घड़ी, पल और विपल में समय का विभाग किया। शायद इससे अधिक सूक्ष्म काल-गणना की लोक-व्यवहार में आवश्यकता नहीं समझी गई होगी, अन्यथा सैकिंड के भी विभाग क्यों नहीं किये जा सकते ? मगर ज्ञानियों ने सूक्ष्म तत्व का निरूपण करने के उद्देश्य से काल के सूक्ष्मतम अंश का भी निरूपण किया है। काल का यह सूक्ष्मतम अंश, जो निरंश है, जिसका दूसरा अंश संभव नहीं है, 'समय' कहलाता है। यों तो 'समय' शब्द का सामान्य लोकप्रचलित अर्थ काल (टाईम) है, मगर यहाँ वह सामान्य अर्थ नहीं लिया गया है, वरन् पूर्वोक्त विशेष अर्थ ही लिया गया है। एक सूक्ष्मतम समय में ही अनेक काम हो जाते हैं। एक समय मात्र में अनन्त गुणहीन जीव अनन्त-गुण अधिक

स्वार्थ-साधन नहीं करना था। वह सर्वस्व परित्यागी और वीतराग महात्मा थे। सर्वथा निष्काम और परहित निरत थे। एवं ज्ञानी भी थे। उनके असत्य बोलने का कोई कारण नहीं था। फिर वह मिथ्या उपदेश क्यों देते? अतएव उनके उपदेशों की सत्यता पर दृढ़ विश्वास रख कर समय मात्र का भी प्रमाद मत करो।

नव घाटी मांहि भटकत भटकत पायो नरभव सार।
जाने पछे देवता जीया थें किम जायो हो हार॥

एक घाटी में नहीं, किन्तु नौ घाटियों में चक्कर काटते-काटते गाड़ी पार हुई है। अब मनुष्य जन्म प्राप्त हुआ है। अब पार लगी हुई गाड़ी को जान-बूझकर फिर क्यों चक्कर में डालते हो? यह मनुष्य जन्म वह है, जिसके लिए देवता भी तरसते हैं।

भक्ति में लगे हुए भक्त को कहीं न कहीं से कोई अच्छी बात हाथ लग ही जाती है। भक्त तुकाराम कहते हैं:—

अनन्त जन्म ज्यारी केल्या तपराशी [illegible]।
तरी [illegible] पचपी [illegible]
ऐसा [illegible] गी। [illegible] ०॥
[illegible] कमाचा सार [illegible]

उन

दुल्लहे

गढा य

आर्य

प्राणियों

की ती

रहते

है, इ

यह

[illegible] रहता है । अगर म

[illegible] के पहुंचने वाले तो घर ही नरक हो

[illegible] के सब साधन मौजूद भी हों

की आवश्यकता है। इसी के अनुसार गौतम स्वामी का यह प्रश्न है कि नरक के जीवों की जघन्य स्थिति से उत्कृष्ट स्थिति से उत्कृष्ट स्थिति पर्यन्त कितने स्थान-विभाग-हैं ? भगवान ने इस प्रश्न का उत्तर दिया है—गौतम ! असंख्यात स्थान हैं।

यहाँ प्रश्न खड़ा हो सकता है कि दस हजार वर्ष की स्थिति के भेद गिनने में असंख्यात किस प्रकार हो गये ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि काल-गणका के लिए विभिन्न देशों में तरह-तरह के विभागों की कल्पना की गई है। यूरोप-निवासियों ने समय के विभाग को समझने के लिए घण्टे, मिनट और सैकिंड की कल्पना की है। सैंकिड तक पहुँचकर उनकी गति रुक गई। भारतीय ज्योतिषियों ने घड़ी, पल और विपल में समय का विभाग किया। शायद इससे अधिक सूक्ष्म काल-गणना की लोक-व्यवहार में आवश्यकता नहीं समझी गई होगी, अन्यथा सैकिंड के भी विभाग क्यों नहीं किये जा सकते ? मगर ज्ञानियों ने सूक्ष्म तत्व का निरूपण करने के उद्देश्य से काल के सूक्ष्मतम अंश का भी निरूपण किया है। काल का यह सूक्ष्मतम अंश, जो निरंश है, जिसका दूसरा अंश संभव नहीं है, 'समय' कहलाता है। यों तो 'समय' शब्द का सामान्य लोकप्रचलित अर्थ काल (टाईम) है, मगर यहाँ यह सामान्य अर्थ नहीं लिया गया है, वरन् पूर्वोक्त विशेष अर्थ ही लिया गया है। एक सूक्ष्मतम समय में ही अनेक काम हो जाते हैं। एक समय मात्र में अनन्त गुणहीन जीव अनन्त-गुण अधिक

हो जाता है और अनन्तगुण अधिक जीव, अनन्त गुणहीन हो जाता है। एक समय में पुद्गल का एक परमाणु चौदह राजू लोक की यात्रा करके सिद्धशिला तक जा पहुँचता है।

भारत से विलायत जो तार जाता है, वह कुछ ही सैकिंड में चला जाता है। लेकिन वह झट से एक खंभे पर से होकर दूसरे खंभे पर और इसी प्रकार आगे चलता है। इस प्रकार जितने खंभों पर होकर तार जाता है, सैकिंड और मिनट के उतने ही विभाग हो जाते हैं। इसी प्रकार दस हजार वर्ष की स्थिति से नब्बे हजार वर्ष की स्थिति तक असंख्य विभाग-स्थितिस्थान—हो जाते हैं।

कहा जा सकता है कि यह असंख्यात स्थितिस्थान सिद्ध करने से लाभ क्या है? इसका उत्तर यह है कि यह विचार निष्कारण नहीं है। गणधर की बारीक बातों पर विश्वास हो जाय तो स्थूल बातों पर अविश्वास करने कोई कारण नहीं रहेगा। जैसे एक गणितज्ञ के बताये हुए बारीक हिसाब पर विश्वास हो जाने पर स्थूल हिसाब पर अविश्वास नहीं होता, इसी प्रकार अगर कोई कहे कि जैनों के शास्त्रों में जो बात बतलाई गई हैं, जो हिसाब बतलाया गया है, उसकी सत्यता का प्रमाण क्या है? तो उसे संतुष्ट करने के लिए यह हिसाब बतलाया गया है। अगर यह हिसाब सही है और इसके सही होने में कोई भी बाधा नहीं है, तो उन महात्माओं की अन्य-अन्य बातों पर भी विश्वास करना चहिए।

अब यह देखना है कि इन जीवों को नरक-स्थान में किसने रोक रक्खा है ? एक अंग पर विश्वास हो जाने पर दूसरे अंग पर विश्वास करना बुद्धि का काम है।

गौतम स्वामी पूछते हैं--भगवन् ! रत्नप्रभा पृथ्वी के तीस लाख नारकावासों में बसने वाले जघन्य स्थिति के जीव-जो जीव एक ही स्थिति में वर्तते हैं, उनमें क्रोध अधिक है, मान अधिक है, माया अधिक है या लोभ अधिक है ? गौतम स्वामी के इस प्रश्न के उत्तर में भगवान फर्माते हैं--गौतम ! वह सब जीव क्रोधी, मानी, मायी और लोभी हैं परन्तु कभी-कभी ऐसा हो जाता है कि वे सब जीव क्रोधी ही क्रोधी हो जाते हैं। ऐसे समय में मान, माया और लोभ नहीं देखा जाता।

भगवान ने नरक के जीवों को क्रोधी ही क्रोधी कहकर गति प्रत्यय का हिसाब लगाया है। जिसमें तमोगुण अधिक होगा, जो हल्की प्रकृति का होगा उसमें क्रोध ज्यादा मिलेगा यह प्रत्यक्ष है। अतएव जहाँ ज्यादा क्रोध है वहाँ नरक समझना चाहिए। नरक में क्रोध, परस्पर की लड़ाई और परस्पर की अशान्ति है। वहाँ के जीवों को आपस में मारामारी करना ही सूझता है; क्योंकि उनमें क्रोध बहुत है। एक बाप के चार पुत्र हों और उनमें क्रोध न हो तो शान्ति रहेगी। अगर वे सब क्रोधी हुए, आपस में लड़ने लगे तो घर ही नरक हो जायगा। घर में सांसारिक सुखों के सब साधन मौजूद भी हों

तब भी अगर भाई-भाई में लड़ाई-झगड़ा चलता हो तो वही सुख के साधन, दुःख के साधन बन जाते हैं। यह बात किसी से छिपी नहीं है। क्रोध की अधिकता ने किस प्रकार अशान्ति की प्रचंड ज्वालाएँ भभकीं, कैसे-कैसे घमासान युद्ध मचे, इस विषय की कथाएँ सुनने पर हृदय द्रवित हो जाता है। बाप-बेटे भाई-भाई और जिनका संबंध आजकल बहुत समीप का समझा जाता है, उन पति-पत्नी की लड़ाई देखो तो ज्ञान होगा कि ये घर नहीं, नरक हैं।

कहावत प्रसिद्ध है कि रिस बड़ी सयानी होती है, इसलिए वह अपने पर ही आती है। अगर खुद का लड़का कोई काम बिगाड़ दे तो बहुत जल्दी आँखें लाल हो जाती हैं; कोई दूसरा बिगाड़े तो उतना और उतनी जल्दी गुस्सा नहीं आता। लेकिन जहाँ प्रेम है, अपना पन है, वहाँ प्रेम के बदले क्रोध हो तो वहाँ नरक नहीं समझना चाहिए।

भगवान ने कहा—कभी-कभी नरक के सब जीव क्रोधी ही क्रोधी हो जाते हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि उनके मान, माया और लोभ का क्षय हो जाता है। यहां भगवान ने जो कहा है, वह शुद्ध ऋजुसूत्रनय की बात है। ऋजुसूत्रनय के अनुसार भगवान ने फर्माया है कि नरक के सभी जीव कभी क्रोधी ही क्रोधी हो जाते हैं। एक भाव की प्रबलता में दूसरे स्वाभाविक ही दब जाते हैं। इसी नियम के अनुसार

क्रोध की प्रबलता में मान, माया और लोभ दब जाते हैं। मगर चारों ही प्रकृतियाँ विद्यमान अवश्य रहती हैं। केवल जिस समय जीवों का उपयोग क्रोध में रहता है, उस समय मान आदि में नहीं रहता।

ऋजुसूत्रनय कहता है—मैं वर्तमान काल को ही मानता हूँ, भूत और भविष्यकाल असत् अविद्यमान हैं, इसलिए मैं उन्हें नहीं मानता। उदाहरणार्थ---एक आदमी सामायिक ग्रहण करके बैठा है। अगर उस समय उसका चित्त संसार के व्यवहार की ओर गया तो ऋजुसूत्रनय उसे संसार व्यवहारी मानेगा, सामायिक निष्ठ नहीं मानेगा। 'सामायिक में बैठने वाले का मन अगर मोची की दुकान पर गया, तो ऋजुसूत्रनय कहता है-वह मोची की दुकान का ग्राहक है, सामायिक करने वाला नहीं। सामायिक करने वाला वह तभी माना जायगा, जब उसका ध्यान सामायिक में हो। इसी प्रकार नरक के जीव जब क्रोध में होते हैं, उनका उपयोग क्रोध में होता है, तब वह क्रोधी हैं' मानी, मायी और लोभी नहीं है।

इस विषय में एक उदाहरण और लीजिए। जिसे लाख रुपये मिलने वाले हों या जिसके पास लाख रुपये थे, वह लोक व्यवहार में लाख-पति कहलाता है। लेकिन ऋजुसूत्रनय उसे लाख-पति नहीं मानता। जिसके अधिकार में वर्त्तमान काल में लाख रुपये हों उसी को वह लख-पति मानता है।

लाख रुपये किसी के पास भले ही थे या होंगे लेकिन अगर वर्तमान में नहीं हैं, फिर भी उसे लखपति कहा जाय तो फिर चाहे जिसे लखपति कहा कहा जा सकता है। इस प्रकार ऋजुसूत्रनय उसे लखपति नहीं मानता, चाहे व्यवहार में उसे लखपति कहा जाय।

जैनधर्म अनेकान्तवादी है। वह सभी बातों का समाधान कर सकता है। लेकिन आज हम लोगों में ही खैंचातानी चल रही है। अगर यह खैंचातानी छोड़ कर देखें तो जैनधर्म वस्तु के किसी भी अंग का विरोधी नहीं है।

जब एक पक्ष का विरोध करके, दूसरे पक्ष की ही स्थापना की जाती है, तब विरोध उत्पन्न होता है। उदाहरण के लिए, अनेक अंग मिलकर हाथी का पूर्ण शरीर कहलाता है। अब कोई आदमी हाथी का पाँव ही पकड़ कर कहता है कि हाथी खंभे के समान ही होता है, हमने टटोलकर देख लिया है। दूसरा सूंड पकड़ कर कहता है--हाथी डगले बाँह, मुद्गर सरीखा होता है। तीसरा पूंछ का स्पर्श करके कहता है-हाथी रस्सी सरीखा होता है। चौथे ने कान पकड़ कर कहा-हाथी सूप-सा होता है। पाँचवें ने कहा-हाथी कोठी के समान होता है, इत्यादि। ऐसे समय में ज्ञान कहता है—मेरा अभाव होने से ही ये सब लोग लड़ रहे हैं और एक दूसरे की बात को मिथ्या समझ रहे हैं। यद्यपि यह सब सच कह रहे हैं,

लेकिन अपूर्ण ज्ञान (अज्ञान) के कारण दूसरों की आपेक्षिक सत्य बात को भी असत्य कह कर स्वयं असत्यवादी बन रहे हैं। जो आदमी हाथी को खंभे सरीखा बतलाता वह ठीक कहता है, क्योंकि हाथी के पैर खंभे सरीखे ही होते हैं। लेकिन जो भाई हाथी को (डगले की बाँह) मुद्गर सरीखा कहता है, वह भी झूठ नहीं कहता, क्योंकि हाथी की सूंड ऐसी होती है। इसी प्रकार दूसरों की कही बातों पर अगर विभिन्न दृष्टियों से विचार किया जाय तो सारा झगड़ा ही मिट जाय।

प्रत्येक मनुष्य के लिए, जो निष्पक्ष होकर सत्य का प्रकाश करना चाहता है, यही उचित है कि सब प्रश्नों पर यथोचित विचार करके न्याय करें। किसी एक ही पक्ष का दुराग्रह करना उचित नहीं है। वादी और प्रतिवादी की बात सुनकर, निचोड़ निकाल कर निर्णय देना ही न्याय है। धर्म भी इसी बात का समर्थन करता है। धर्म का आदेश है कि दुराग्रह के वश होकर लड़ाई-झगड़ा करना और बुद्धि का दुश्मन बनना उचित नहीं है।

मतलब यह है कि एक पक्ष को पकड़कर दूसरे पक्ष का विरोध करना ही लड़ाई की जड़ है। इसीलिए ज्ञानी पुरुष किसी एक पक्ष को पकड़कर आग्रहशील नहीं होते और सब पक्षों पर यथा योग्य विचार करते है। वे हाथी के एक-एक अंग के आधार पर भिन्न-भिन्न रूप में हाथी बतलाने वाले

लोगों को उस उस ग्रंथ से लाभ उठाने हैं और इस [illegible] ग्रन्थ के सम्बन्ध में सम्पूर्ण [illegible] का [illegible] देते हैं।

धर्म से शान्ति मिलनी चाहिए, लेकिन लोगों ने उसका दुरुपयोग करके उसे अशान्ति फैलाने वाला बना दिया है। आज धर्म के नाम पर जो अशान्ति फैल रही है, वह अन्य कारणों से होने वाली अशान्ति से क्या कम है। हिन्दू और मुसलमानों को लीजिए, जैनों-जैनों को देखिए, ईसाई-ईसाई के व्यवहार पर दृष्टि डालिए, सर्वत्र खींचतान और अशान्ति का साम्राज्य दिखाई देगा। इस अशान्ति को देखकर बहुत से लोग धर्म से ही घृणा करने लगते हैं और कहते हैं—संसार को धर्म की आवश्यकता नहीं। इस प्रकार का आन्दोलन भी प्रारंभिक रूप में आरंभ हो गया है। लेकिन यह विचारहीनता का परिणाम है। यह आन्दोलन कोरे मस्तिष्क की चंचलता है। हृदय की बात दूसरी है। हृदय का विकास होने पर लोग धर्म के लिए आग में जलने को तैयार हो जाएँगे, लेकिन धर्म न छोड़ेंगे। इस बात की सत्यता के प्रमाण यूरोप का इतिहास भी उपस्थित करता है। यूरोप में कई लोगों से कहा गया कि तुम अपनी मान्यता बदल लो, अन्यथा तुम्हें आग में जला दिया जायगा। लोग आग में जल गये मगर उन्होंने अपनी मान्यता बदलना स्वीकार न किया। सिर्फ मस्तिष्क के विचार वाला ऐसा नहीं कर सकता। मस्तिष्क कहता है—छोड़ो

अहिंसा का भक्त न स्वयं डरेगा और न दूसरे को डराएगा। अगर आपने अहिंसा की प्रतिष्ठा न बढ़ाई तो संसार नरक बन जायगा। जैसे नरक में कोई समय ऐसा आता है जब सभी नारकी क्रोधी ही क्रोधी हो जाते हैं, इसी प्रकार इस लोक में भी ऐसा समय आ सकता है कि सभी मनुष्य हिंसक ही हिंसक हो जाएँ!

यह पहले कहा जा चुका है कि क्रोध बहुत होने का अर्थ यह नहीं है कि नारकियों में मान, माया और लोभ नहीं होता। मान, माया और लोभ भी उनमें होते हैं, परन्तु उन जीवों का उपयोग जब क्रोध में रहता है, तब मान आदि में नहीं रहता। उदाहरण के लिए कल्पना कीजिए, किसी सेठ की चार दुकान हैं। एक बजाजी की है, सराफी की है, तीसरी गल्ले की है और चौथी पंसारी की है। दुकान चार हैं और दुकानदार एक है। वह दुकानदार जब सराफी की दुकान पर बैठ कर व्यापार करता है, तब उसकी शेष तीन दुकानें बंद नहीं हैं, किन्तु वह व्यापार एक ही दुकान पर कर रहा है! इसी प्रकार नरक के जीवों में क्रोध आदि चारों कषाय मौजूद हैं। जब वे क्रोधी होते हैं तब भी उनमें मान, माया और लोभ विद्यमान रहते हैं किन्तु उस समय वह क्रोध का ही व्यापार करते हैं। इसलिए उन्हें क्रोधी ही क्रोधी कहा है।

नरक में क्रोध बहुत होता है। अगर आप लोगों ने नरक देखा है तो

से घर या घट भी नरक के समान हो जाता है, यह तो आप देखते ही हैं। इसलिए ज्ञानियों ने कहा है कि जहाँ क्रोध बहुत है, वहाँ नरक है।

भगवान कहते हैं—गौतम! यह एक भंग की बात हुई। इसी प्रकार सत्ताईस भंग हैं। कोई समय ऐसा होता है कि नरक के सभी जीव क्रोधी ही क्रोधी होते हैं, तो कभी ऐसा भी समय होता है जब क्रोधी भी बहुत होते हैं और मानी भी बहुत होते हैं। कभी क्रोधी बहुत और मानी एक ही होता है। इसी प्रकार क्रोध और मान, क्रोध और माया तथा क्रोध और लोभ के भंग हैं। यह दो-संयोगी भंग हुए। इन दो-संयोगी भंगों की संख्या छह है और एक अकेले क्रोध का भंग इनमें मिलाने से सात भंग होते हैं। दो-संयोगी भंगों के समान तीन-संयोगी भंग भी हैं। जैसे-क्रोधी बहुत, मानी बहुत मायी एक। क्रोधी बहुत, मानी एक और मायी बहुत। क्रोधी बहुत, मानी बहुत, मायी एक। क्रोधी बहुत, मानी एक, लोभी एक। क्रोधी बहुत, मानी एक, लोभी बहुत। इस प्रकार तीन-संयोगी भंग बारह हैं। तत्पश्चात् चार-संयोगी भंग आते हैं। जैसे-क्रोधी बहुत, मानी एक, मायी एक और लोभी एक। क्रोधी बहुत, मानी एक, मायी एक और लोभी बहुत। इस प्रकार के भंग आठ हैं। यह सब मिलकर सत्ताईस भंग होते हैं।

गौतम स्वामी प्रश्न करते हैं कि—भगवन्! दस हजार वर्ष से एक समय अधिक स्थिति वाले का स्थितिस्थान अलग

है। ऐसी अवस्था में उन जीवों के यही भंग होंगे या कम-ज्यादा ?

इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् फ़र्माते हैं—गौतम ! जघन्य स्थिति से एक समय अधिक स्थिति वाले जीव के विषय में सत्ताईस भंगों के बदले अस्सी भंग होते हैं। जघन्य स्थिति वाले जीव का कभी विरह नहीं होता-अर्थात् ऐसा कभी नहीं होता कि कोई न कोई जीव जघन्य स्थिति वाला नरक में न हो। परन्तु एक समय से लेकर संख्यात समय अधिक तक की स्थिति वाले जीवों का कदाचित विरह भी हो जाता है। किसी समय ऐसा एक ही जीव पाया जाता है और कभी असंख्य पाये जाते हैं। कभी जीव क्रोधी भी हो सकते हैं, मानी भी हो सकते हैं, मायी भी हो सकते हैं और लोभी भी हो सकते हैं। यह चार भंग हुए। इसी प्रकार क्रोधी बहुत, मानी बहुत, मायी बहुत और लोभी बहुत यह चार भंग हैं। इसी तरह क्रोधी और मानी, क्रोधी और मायी, क्रोधी और लोभी, मानी और मायी, मानी और लोभी, तथा मायी और लोभी, इन दो संयोगी के प्रत्येक के चार-चार भंग के हिसाब से चौबीस भंग हुए। इसी प्रकार जीव संयोगी के बत्तीस और चार संयोगी के सोलह भंग हैं। यह सब मिलकर अस्सी भंग हुए। मतलब यह है कि जघन्य स्थिति से एक समय अधिक स्थिति वाले जीवों का कभी-कभी विरह भी हो जाता है, इसलिए इनके अस्सी भंग होते हैं। आगे जघन्य स्थिति से

असंख्यात समय अधिक स्थिति वाले जीवों से लेकर उत्कृष्ट स्थिति वाले जीवों का कभी विरह नहीं होता। अतएव उनमें जघन्य स्थिति वालों के समान सत्ताईस भंग ही होते हैं।

यहाँ एक प्रश्न यह उपस्थित हो सकता है कि विरह काल का समय कौन-सा लिया जाय? अगर उत्पाद का विरहकाल चौबीस मुहूर्त लिया जाय तो सूत्र का संबंध विच्छिन्न हो जाता है और जहाँ सत्ताईस भंग माने गये हैं वहाँ अस्सी भंग मानने पड़ेंगे। अतएव उत्पाद का विरहकाल न लेकर क्रोधोपयुक्त नारकी जीवों की सत्ता की अपेक्षा से ही विरह काल लेना चाहिए।



अवगाहना स्थान

मूलपाठ—

प्रश्न—इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए तीसाए निरयावाससयसहस्सेसु एगमेगंसि निरयासंसि नेरइयाणं केवइया ओगाहणाठाणा पन्नत्ता ?

उत्तर—गोयमा ! असंखेज्जा ओगाहणा ठाणा पण्णत्ता । तंजहा—जहण्णिया ओगाहणा, पदेसाहिया, जहन्निया ओगाहणा, दुप्पएसहिया जहन्निया ओगाहणा, जाव असंखेज्ज पएसाहिया जहण्णिया ओगाहणा । तप्पाउग्गुकोसिया ओगाहणा ।

प्रश्न—इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए तीसाए निरयावाससयसहस्सेसु एगमेगंसि णिरया-

उत्तर—गोयमा ! अशीति भङ्गा भणितव्याः, यावत् संख्यात् प्रदेशाधिका जघन्याऽवगाहना । असंख्येय प्रदेशाधिकया जघन्याऽवगाहनया वर्त्तमानानाम्, तत्प्रायोग्योत्कर्षिक्याऽवगाहनया वर्त्तमानानाम् नैरयिकाणाम् द्वयोरपि सप्तविंशति भङ्गा ।

शब्दार्थ—

प्रश्न—भगवन् ! इस रत्नप्रभा पृथ्वी में, तीस लाख नारकवासों में के एक-एक नारकवास में बसने वाले नारकियों के अवगाहनास्थान कितने कहे गये हैं ?

उत्तर—गौतम ! उनके अवगाहनास्थान असंख्येय कहे हैं । वे इस प्रकार हैं—जघन्य अवगाहना (अंगुल के असंख्यातवें भाग), एक प्रदेश अधिक जघन्य अवगाहना, दो प्रदेश अधिक जघन्य अवगाहना, यावत् असंख्यात प्रदेश अधिक जघन्य अवगाहना, तथा उसके योग्य उत्कृष्ट अवगाहना ।

प्रश्न—भगवन् ! इस रत्नप्रभा पृथ्वी में तीस लाख नारकावासों में के प्रत्येक नारकावास में, जघन्य अवगाहना में वर्तने वाले नारकी क्या क्रोधोपयुक्त हैं ?

उत्तर—गौतम ! अस्सी भंग कहने चाहिए । यावत्-संख्यात् प्रदेश अधिक जघन्य अवगाहना वालों के भी अस्सी भंग समझना । असंख्यात प्रदेश अधिक जघन्य अवगाहना में वर्तने वाले और उसके योग्य उत्कृष्ट अवगाहना में वर्तने वाले नारकियों के—दोनों के सत्ताईस भंग कहने चाहिए ।

व्याख्यान

यहाँ अवगाहना संबंधी विचार किया गया है । स्थिति की अपेक्षा अवगाहना का विचार सूक्ष्म है । एक उंगली रखने में भी आकाश के असंख्य प्रदेश रुकते हैं । आँख मींचकर खोलने में भी असंख्य समय निकल जाते हैं ।

श्री गौतम स्वामी भगवान से पूछते हैं—प्रभो ! इस रत्नप्रभा पृथ्वी के तीस लाख नारकावासों में से एक-एक नारकावास में बसने वाले नारकी जीवों के अवगाहना स्थान कितने हैं ?

जैसे स्थति के स्थान हैं, उसी प्रकार अवगाहना के भी स्थान हैं । जिसमें जीव रहे सो अवगाहना कहते हैं—अर्थात् शरीर या आकाश-प्रदेश । गौतम स्वामी का प्रश्न यह है कि एक-एक नारकावास में बसने वाले नारकियों के शरीरस्थान

कितने हैं ? अर्थात् उन नारकियों के शरीर कितने आकाश प्रदेशों में रहते हैं ?

इस प्रश्न के उत्तर में भगवान फ़र्माते हैं--हे गौतम ! एक-एक नारकावास में बसने वाले जीवों के अवगाहना स्थान असंख्य-असंख्य हैं। कम से कम उनकी अवगाहना-शरीर-अंगुल के असंख्यातवें भाग बराबर होता है। इस जघन्य अवगाहना से एक प्रदेश अधिक, दो प्रदेश अधिक, इस प्रकार असंख्यात प्रदेश अधिक तक के शरीर वाले होते हैं। अतः अवगाहनास्थान असंख्यात हैं।

जिसमें जीव ठहरता है, वह अवगाहना है, अर्थात् जीव की लम्बाई-चौड़ाई अवगाहना कहलाती है। यह शरीर-अवगाहना है। जिस क्षेत्र में जीव रहते हैं उसे भी अवगाहना कहते हैं।

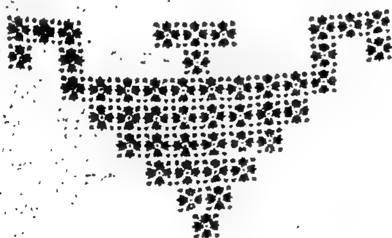
अब गौतम स्वामी पूछते हैं--भगवन् ! जघन्य अवगाहना वाले नारकी क्रोधी हैं, मानी हैं, मायी, हैं या लोभी हैं ?

भगवान उत्तर देते हैं--हे गौतम ! स्थिति के समान यहाँ भी अस्सी अंग जानने चाहिए। जघन्य अवगाहना से असंख्य प्रदेश अधिक तथा उत्कृष्ट अवगाहना वालों के सत्ताईस भंग होते हैं।

यहाँ यह आशंका होती है कि जघन्य स्थिति में सत्ताईस भंग कहे हैं, फिर यहाँ जघन्य अवगाहना में अस्सी भंग कहने

का क्या कारण है ? इस शंका का समाधान यह है कि जघन्य स्थिति वाले नरक के जीव, जब तक जघन्य अवगाहना वाले रहते हैं, तब तक उनकी अवगाहना के अस्सी भंग ही होते हैं, क्योंकि जघन्य अवगाहना वाले जीव कम होते हैं। जघन्य वाले जिन नारकी जीवों के सत्ताईस भंग कहे हैं, वे जघन्य अवगाहना को उल्लंघन कर चुके होते हैं। उनकी अवगाहना जघन्य नहीं होती इसलिए सत्ताईस ही भंग कहे गये हैं।

जघन्य अवगाहना से संख्यात प्रदेश की अधिक अवगाहना वाले जीव नरक में कम मिलते हैं, इसलिए अस्सी भंग कहे हैं और जघन्य अवगाहना से असंख्यात प्रदेश अधिक की अवगाहना वाले तथा उत्कृष्ट अवगाहना वाले जीव नरक में अधिक पाये जाते हैं, इसलिए उनके सत्ताईस भंग कहे हैं।



कोई यह न समझ ले कि हम लुक-छिपकर एकान्त में जो काम करते हैं, उसे कोई देखता नहीं है। कभी मत सोचो कि जब कोई देखता हो तो पाप से अलग रहें, और कोई न देखता हो तब पाप से डरने की आवश्यकता नहीं। तुम्हारा पाप कोई दूसरा व्यक्ति देखे या न देखे, मगर कार्मण शरीर में तो उसका चित्र अंकित हो ही जाता है। तुम्हारे संस्कार शरीर में उसका बंधन हुए बिना नहीं रहता। संस्कार-शरीर में बंधन किस प्रकार होता है, यह आपको मालूम नहीं होता, लेकिन बंधन अवश्य होता है। इसे समझने के लिए निम्न उदाहर उपयोगी होगा।

दूध प्रायः सभी पीते हैं। दूध पीने पर पेट में पहुंचने के पश्चात् उसका क्या-क्या होता है, यह आपको मालूम है? यह बात प्रत्यक्ष में दिखाई नहीं देती कि दूध से क्या-क्या बनता है और किस प्रकार बनता है? लेकिन वैज्ञानिक विचार से, शरीरशास्त्र की दृष्टि से और अनुभव से देखो तो मालूम होगा कि दूध किस-किस रूप में परिणमन करता है और उससे किस-किस अंग को क्या-क्या शक्ति प्राप्त होती है।

सिद्धान्त का कथन है कि पेट में गया हुआ भोजन दो भागों विभक्त होता है। खलभाग और रसभाग में। रसभाग में तैजस शरीर अलग करता है, जिसे लोकव्यवहार में जठराग्नि कहते हैं या तेज कहते हैं। खलभाग और रसभाग अलग-अलग

अलग करने के पश्चात् तैजस शरीर रसभाग में से वारीक से वारीक पुद्गल खींचकर आँख को पहुँचाता है। उससे कम वारीक पुद्गल कान में, उससे कम वारीक नाक में और उससे भी कम वारीक पुद्गल जीभ में पहुँचाता है। अर्थात् जिन पुद्गलों में सरसता अधिक होती है और रूक्षता कम होती है, ऐसे पुद्गल आँखों को मिलते हैं। यह सब कार्रवाई तैजस शरीर द्वारा आपके शरीर में होती है लेकिन आप उसे देखते नहीं हैं। लेकिन यह तो आप देखते ही हैं कि तरचीज़ खाने से आँखों का तेज बढ़ता है और बहुत चरपरी चीज़ खाने से आँखों को कष्ट पहुँचता है।

यह सब तैजस शरीर का काम है। लेकिन अब यह देखना है कि आपने जो कुछ भी खाया है, वह किस मनोभावना से खाया है। खाकर और उसके सिवाय पुद्गल आँख, कान, नाक और जीभ ने पाकर क्या किया है? इस बात का हिसाब कार्मण शरीर रखता है।

शरीर, निसर्गतः दूध, गेहूं और बाजरी से आँख का निर्माण करता है। ऐसी आँख संसार का सर्वोत्तम डाक्टर भी नहीं बना सकता। भूख जब व्याकुल बना देती है, तब आँखों में धुंधलापन आने लगता है, लेकिन उस समय अगर थोड़ा-सा दूध मिल जाय तो चेतना लौट सी आती है। आँखों का धुंधलापन मिटाकर तेजी लाना, यही आँख बनाना है। आत्मा

[illegible]

[illegible]

[illegible]

तात्पर्य यह है कि नारकी जीवों के तीन शरीर होते हैं। और केवल स्थूल शरीर ही शरीर नहीं है, अपितु सूक्ष्म शरीर भी हैं, जो मृत्यु-काल में भी विद्यमान रहते हैं और जीव और पुद्गलों के परिणमन में निमित्त होते हैं।

इसके पश्चात् गौतम स्वामी ने प्रश्न किया है—भगवान्! वैक्रिय शरीर वाले नारक जीव क्रोधी हैं, मानी हैं, मायी हैं या

लोमी हैं? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् फ़र्माते हैं—हे गौतम! इस विषय में सत्ताईस भंग समझने चाहिए। क्योंकि ऐसा कोई समय नहीं होता जब वैक्रिय शरीर वाले जीव नरक में न हों। वैक्रिय शरीर वाले जीव नरक में बहुत होते हैं, इसलिए सत्ताईस भंग ही प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार तीनों शरीरों के संबंध में जानना चाहिए।

कहा जा सकता है कि वैक्रियक शरीर वालों के सत्ताईस भंग भगवान ने फ़र्मा दिये थे। शेष दो शरीर ही बचे थे। अतएव यह कहना चाहिए था कि 'इसी प्रकार दोनों शरीरों के संबंध में जानना चाहिए।' मगर यहाँ 'इसी प्रकार तीनों शरीरों के संबंध में जानना चाहिए,' ऐसा कहा है। इसका क्या कारण है?

संक्षेप में इसका उत्तर यह है कि अगर तैजस और कार्मण शरीरों को वैक्रिय शरीर से अलग कर दिया जाय तो अस्सी भंग प्राप्त होंगे। जघन्य अवगाहना तैजस—कार्मण शरीर की अपेक्षा से है। इसीसे सत्ताईस भंग कहे हैं। वैक्रिय-रहित तैजस—कार्मण शरीर में अस्सी भंग मिलेंगे। अतएव भगवान ने कहा है कि तीनों शरीर साथ ही हैं। यह चर्चा केवल तैजस—कार्मण शरीर की नहीं है, किन्तु वैक्रिय सहित तैजस-कार्मण की है। इसलिए सत्ताईस ही भंग मिलेंगे। कहने के लिए तीनों शरीरों के संबंध में ऐसा कथन किया गया है।

गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में भगवान् फ़र्माते हैं—गौतम ! नरक के जीव सम्यग्दृष्टि भी होते हैं, मिथ्यादृष्टि भी होते हैं और मिश्रदृष्टि भी होते हैं।

नरक के जीवों को क्षण भर भी साता नहीं मिलती; फिर भी नरक में सम्यग्दृष्टि जीव पाये जाते हैं और ऐसे-ऐसे भी सम्यग्दृष्टि पाये जाते हैं जो उम्र भर सम्यग्दृष्टिपन का पालन करते हैं। यह विचारने योग्य बात है कि उस भीषण यातनामय, घोर अशान्त और भयंकर मारकाट से निरन्तर परिपूर्ण नरक में वे जीव किस प्रकार अपने सम्यक्त्व की रक्षा करते हैं।

संसार के कई लोग आपस में लड़कर कहते हैं—तेरा सम्यक्त्व यों चला गया, त्यों चला गया। उन्हें यह ज्ञान नहीं है कि सम्यक्त्व श्रद्धान की वस्तु है, वह यों-त्यों कैसे चला जा सकता है ? अगर इस प्रकार सम्यक्त्व जाने लगे तो नारकी जीव कैसे सम्यग्दृष्टि रह सकते हैं ?

दुःख के अवसर पर धर्म के साक्षात् दर्शन होते हैं। कहावत है—ठोकर आने पर अक्ल आती है। इस कहावत के अनुसार बहुत से लोगों ने इस बात का पश्चाताप किया है कि—'हाय ! सत्पुरुषों ने हमें कैसा हितमय उपदेश दिया था। लेकिन मैं कैसा दुर्बुद्धि था कि उस अमृतमय उपदेश को भी मैंने ज़हर समझा !' नरक के अनेक जीव [illegible] प्रका[illegible]

पश्चाताप करके सम्यग्दृष्टि बन जाते हैं। आप मनुष्य हैं, साहस रखिए। आपके हाथों में कोई हथकड़ी डाल सकता है लेकिन आत्मा को बन्दी बनाने की शक्ति किसी में नहीं है। कर्म जीवों को नरक में डाल देता है, लेकिन आत्मा तो वहाँ भी स्वतंत्र ही रहता है। अतएव कष्ट आने पर इस बात का विचार करना चाहिए कि मेरे आत्मा में समस्त शक्तियाँ विद्यमान हैं। मैं जो चाहूँ, कर सकता हूँ। मुझे जो कष्ट हो रहा है, वह मेरी ही दुर्बलता का परिणाम है। मेरी अपनी कमज़ोरी ही दुःखों को उत्पन्न करती है। यह दुःख रोने से कम नहीं होगा, न रोने वाला ईश्वर का हो सकेगा। जो रोता है वह रोता ही रहता है। उसे आनन्द की प्राप्ति नहीं हो सकती। अतएव दुःख के समय रुदन करना योग्य नहीं, परमात्मा का स्मरण करना ही योग्य है। यही दुःखों की अमोघ और अमूल्य औषध है। रोने वाला अनन्त आनन्द स्वरूप परमात्मा के निकट नहीं पहुंच पाता। प्रकृति की विषमता से रोने तो बड़े-बड़े लोग भी लगे, मगर वे तभी तक रोये, जब तक उन्होंने ईश्वर को नहीं पहचाना।

रोने का स्वभाव पुरुष की अपेक्षा स्त्रियों में अधिक होता है। स्त्रियाँ रोने वालों का दुख बढ़ाना बहुत जानती हैं। उन्हें दुःख घटाना नहीं आता। जब किसी के घर मृत्यु जैसा प्रसंग उपस्थित होता है, तब स्त्रियाँ जाती हैं उन्हें धैर्य और सान्त्वना देवे, मगर वहाँ जाकर, स्वयं रोकर उसके घर वालों को रुला

[illegible]

[illegible] योग के भी सत्ताईस भंग समझना।

भगवान ने कार्मणयोग में भी सत्ताईस भंग कहे हैं। लेकिन नरक में जाते हुए जीव में कार्मणयोग कभी होता है, कभी नहीं होता। ऐसी अवस्था में कार्मणयोग में अस्सी भंग न कह कर सत्ताईस भंग क्यों कहे हैं? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि कार्मण शरीर की अपेक्षा से अस्सी भंग होते हैं लेकिन यहाँ सिर्फ कार्मण शरीर की ही चर्चा नहीं है, सामान्य रूप से शरीर की चर्चा है। इसलिए सत्ताईस ही भंग कहे हैं।

गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवन् ! नरक के जीव साकार उपयोग वाले हैं या निराकार उपयोग वाले हैं ?

यहाँ साकार उपयोग और निराकार उपयोग का [illegible] स्वरूप समझलेना उपयोगी होगा। जैसे हीरा कान्ति [illegible] और मोती पानी द्वारा पहचाना जाता है उसी प्रकार [illegible] उपयोग द्वारा पहचाना जाता है। उदाहरणार्थ—'मेरा [illegible] यह सभी कहते हैं, परन्तु हाथ का उपयोग है या समझने वाले का उपयोग है ?

'समझने वाले का।'

हाथ तो हाड़, मांस और रक्त का है। वह कभी रुग्ण होता है, कभी अशक्त होता है, कभी पतला पड़जाता है, कभी मोटा हो जाता है। बालकपन में छोटा रहता है, फिर धीरे-धीरे बढ़ जाता है। इसलिए यह हाथ का उपयोग नहीं है, किन्तु 'मेरा हाथ' कहने वाले को उपयोग कहते हैं। मेरी देह ऐसा कहने में 'मेरी' कहने वाले का उपयोग है। इसी उपयोग से आत्मा की प्रतीति होती है। अगर यह न हो तो आत्मा की प्रतीति होना ही कठिन हो जाय।

साकारोपयोग ज्ञान का और निराकारोपयोग दर्शन का होता है। सामान्य को जानना अनाकारोपयोग है और विशेष को जानना साकारोपयोग है।

अपढ़ आदमी भी काले-काले अक्षर देखता है और पढ़ा लिखा भी। मगर दोनों के देखने में काफी अन्तर है। अपढ़ आदमी आँख से ही अक्षर देखता है, मगर पढ़ा-लिखा बुद्धि से भी देखता है। स्थूल रूप में यह कहा जा सकता है कि यह आँख से ही देखना निराकार-उपयोग है और बुद्धि से भी देखना साकार-उपयोग है। एक को साधारण कालापन ही नज़र आता है और दूसरे को उन अक्षरों में विशेषता मालूम होती है।

बात यह है कि प्रत्येक वस्तु में दो प्रकार के धर्म पाये जाते सामान्यधर्म और विशेष धर्म। जिस धर्म के कारण एक

[illegible]

... सामान्य अंशों को जानना निराकारोपयोग है और विशेष अंशों को जानना साकारोपयोग है।

गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में भगवान ने फ़रमाया-हे गौतम ! नरक के जीवों में साकारोपयोग भी होता है और निराकारोपयोग भी होता है।

फिर गौतम स्वामी पूछते हैं-भगवन् ! साकारोपयोग और अनाकारोपयोग में वर्तने वाले नारकी क्या क्रोधी हैं, मानी हैं, मायी हैं या लोभी हैं ? भगवान् ने उत्तर दिया-यहाँ सत्ताईस भंग समझना चाहिए। नरक में ऐसा कभी नहीं होता, जब एक ही उपयोग वाले हों और दूसरे उपयोग वाले न हों।

यह रत्नप्रभा नरक के जीवों के संबंध में दस बातों की पृच्छा हुई। रत्नप्रभा की तरह सातों नरकों के जीवों की पृच्छा है। अन्तर केवल लेश्या में है। पहले और दूसरे नरक

के जीवों में कापोत लेश्या है। तीसरे नरक में कापोत और नील लेश्या है। चौथे नरक में नील लेश्या है। पाँचवें नरक में नील और कृष्ण लेश्या है। छठे नरक में कृष्ण लेश्या और सातवें में परम कृष्ण लेश्या है।



असुर कुमारों के स्थिति स्थान आदि

मूलपाठ—

प्रश्न—चउट्ठीए णं भंते ! असुरकुमारावास-सयसहस्सेसु एगमेगंसि असुरकुमारावासंसि असुर-कुमाराणं केवइया ठिइट्ठाणा पन्नत्ता ?

उत्तर—गोयमा ! असंखेज्जा ठितिट्ठाणा पएणत्ता जहण्णिया ठिईजहा नेरइया तहा, नवरं-पडिलोमा भंगा भणियव्वा। सव्वे वि ताव होज्ज लोभोवउत्ता। अहवा लोभोवउत्ता य मायोवउत्तो य। अहवा लोभोवउत्ता य मायोवउत्ता य। एएणं गमेणं णेयव्वं जाव थणियकुमाराणं नवरं णाणत्तं जाणियव्वं।

संस्कृत-छाया—

प्रश्न—चतुष्षष्ट्यां भगवन् ! असुरकुमारावास शतसहस्रेषु एकैकस्मिन् असुरकुमारावासेऽसुरकुमाराणां कियन्ति स्थितिस्थानानि प्रज्ञप्तानि ।

उत्तर—असंख्येयानि स्थितिस्थानानि प्रज्ञप्तानि । जघन्या स्थितिर्यथा नैरयिकास्तथा, नवरम्-प्रतिलोमा भङ्गा भणितव्याः । सर्वेऽपि तावद् भवेयुर्लोभोपयुक्ताः । अथवा लोभोपयुक्ताश्च, मायोपयुक्ताश्च । अथवा लोभोपयुक्ताश्च, मायोपयुक्ताश्च । एतेन गमेन नेतव्यं यावत्-स्तनित कुमाराणाम् । नवरम्—नानात्वम् ज्ञातव्यम् ।

शब्दार्थ—

प्रश्न—भगवन् ! चौसठ लाख असुरकुमारावासों में से एक-एक असुरकुमारावास में बसने वाले असुरकुमारों के स्थितिस्थान कितने कहे हैं ?

उत्तर—गौतम ! उनके स्थितिस्थान असंख्यात कहे हैं । वे इस प्रकार—जघन्य स्थिति, एक समय अधिक जघन्य स्थिति इत्यादि नारकियों के समान जाननी चाहिए ।

विशेषता यह है कि भंग प्रति लोभ-उलटे समझना। वे इस प्रकार हैं—समस्त असुरकुमार लोभोपयुक्त होते हैं। अथवा बहुत-से लोभोपयुक्त और एक मायोपयुक्त होता है। अथवा बहुत से लोभोपयुक्त और मायोपयुक्त होते हैं। इत्यादि गम से जानना और इसी प्रकार स्थनित कुमारों तक जानना। विशेष यह है कि भिन्नता जाननी चाहिए।

व्याख्यान

नरक गति के जीवों का वर्णन करने के पश्चात् यहाँ देवगति का वर्णन किया जा रहा है। देवों के चार भेद होते हैं। जो देव पाताल में रहते हैं, वे भवनपति कहलाते है। उनके दस दस भेद हैं। जैन शास्त्रों में इन दस-विध देवों का नाम भवनवासी है। उन्हीं के संबंध में यहाँ प्रश्न किया गया है।

गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवन्! असुरकुमार देवों के चौंसठ लाख भवन—तीस लाख उत्तर में और चौंतीस लाख दक्षिण में-बतलाये हैं, उनमें से एक-एक भवन में कितने-कितने स्थितिस्थान हैं? अर्थात् जघन्य स्थिति वाले, एक समय अधिक जघन्य स्थिति वाले, दो समय अधिक जघन्य स्थिति वाले ऐसे क्रमवार स्थिति के स्थान कितने हैं? भगवान ने फ़र्माया—हे गौतम! असंख्य स्थितिस्थान हैं।

...गौतम स्वामी पूछते हैं—इन असंख्य स्थितिस्थानों
...वाले असुरकुमारों की प्रकृति कैसी है? वह क्रोधी हैं,
...हैं, मायी हैं या लोभी हैं? भगवान ने उत्तर दिया
...चारों ही प्रकार के हैं। अब गौतम स्वामी पूछते
...भगवान्! नरक के जीवों की जैसी प्रकृति आपने बतलाई
...ही असुरकुमारों की है या उनमें कुछ अन्तर है?
...भगवान ने फरमाया—नरक के जीवों में क्रोध अधिक होता है
...देवगति में लोभ अधिक होता है। नरक के जीवों के भंग
...क्रोधी, मानी, मायी, लोभी, इस प्रकार किये गये हैं। परन्तु
...असुरकुमारों के लोभी मानी, मायी और क्रोधी, इस क्रम से
... क्योंकि [illegible] असुरकुमार
[illegible]

पृथ्वीकायिकों के स्थिति-स्थान आदि

मूलपाठ—

प्रश्न—असंखिज्जेसु णं भंते ! पुढविकाइयावास सयसहस्सेसु एगमेगंसि पुढविकाइयावासंसि पुढविकाइयाणं केवइया ठितिट्ठाणा पन्नत्ता ?

उत्तर—गोयमा ! असंखेज्जा ठितिट्ठाणा पराणत्ता तंजहा-जहन्निया ठिई जाव त प्पाउग्गुक्कोसिया ठिई।

प्रश्न—असंखेज्जेसु णं भंते । पुढविकाइयावाससयसहस्सेसु एगमेगंसि पुढविकाइयावासंसि जहरिणयाए ठितीए वट्टमाणा पुढविकाइया किं कोहोवउत्ता, माणोवउत्ता, मायोवउत्ता, लोभोवउत्ता ?

उत्तर—गोयमा ! कोहोवउत्ता वि, माणोउवत्ता वि, मायोवउत्ता वि, लोभोवउत्ता वि । एवं पुढविक्काइयाणं सव्वेसु वि ठाणेसु अभंगयं । नवरं तेउलेस्साए असीतिभंगा, एवं आउक्काइया वि । तेउक्काइया, वाउक्काइयाणं सव्वेसु वि ठाणेसु अभंगयं। वणस्सइकाइया जहा पुढविक्काइया ।

संस्कृत-छाया—

प्रश्न—असंख्येयेषु भगवन् ! पृथिवी कायिकावासशतसहस्रेषु एकैकस्मिन् पृथिवी कायिकावासे पृथिवीकायिकानां कियन्ति स्थितिस्थानानि प्रज्ञप्तानि ?

उत्तर— गौतम ! असंख्यानि स्थितिस्थानानि प्रज्ञप्तानि । तद्यथा-जघन्या स्थितिर्यावत्-तत्प्रायोग्योत्कर्षिका स्थितिः ।

प्रश्न—असंख्येयेषु भगवन् ! पृथिवीकायिकावास शतसहस्रेषु एकैकस्मिन् पृथिवी कायिकावासे जघन्यया स्थित्या वर्तमानाः पृथिवीकायिकाः किं क्रोधोपयुक्ताः, मानोपयुक्ताः, मायोपयुक्ताः, लोभोपयुक्ताः ?

उत्तर—गौतम ! क्रोधोपयुक्ता अपि, मानोपयुक्ता अपि, मायोपयुक्ता अपि, लोभोपयुक्ता अपि। एवं पृथिवीकायिकानां सर्वेष्वपि स्थानेष्वभङ्गम्। नवरं-तेजालेश्याया अशीतिर्भङ्गाः। एवं अप्कायिका अपि। तेजस्कायिकानाम् वायुकायिकानाम् सर्वेष्वपि स्थानेष्वभङ्गम्। वनस्पतिकायिका यथा पृथिवीकायिकाः।

शब्दार्थ—

प्रश्न—हे भगवन् ! पृथ्वीकायिकों के असंख्यात लाख आवासों में से एक-एक आवास में बसने वाले पृथ्वीकायिकों के स्थितिस्थान कितने कहे हैं ?

उत्तर—हे गौतम ! उनके स्थितिस्थान असंख्य कहे हैं। वे इस प्रकार-उनकी जघन्य स्थिति, एक समय अधिक जघन्य स्थिति, दो समय अधिक जघन्य स्थिति, इत्यादि यावत्-उसके योग्य उत्कृष्ट स्थिति।

प्रश्न—भगवन् ! पृथ्वी कायिकों के असंख्यात लाख आवासों में से एक-एक आवास में बसने वाले और जघन्य स्थिति वाले पृथ्वी कायिक क्या क्रोधोपयुक्त हैं, मानोपयुक्त हैं, मायोपयुक्त हैं, या लोभोपयुक्त हैं ?

उत्तर—गौतम ! वे क्रोधोपयुक्त भी हैं, मानोपयुक्त भी हैं, मायोपयुक्त भी हैं और लोभोपयुक्त भी हैं। इस प्रकार पृथ्वीकायिकों के सब स्थानों में अभंगक है। विशेष यह है कि तेजोलेश्या में अस्सी भंग कहने चाहिए। इसी प्रकार अप्काय भी जानना। तेजस्काय और वायुकाय के सब स्थानों में अभंगक है। और वनस्पतिकायिक, पृथ्वीकायिक के समान समझने चाहिए।

व्याख्यान

अब गौतम स्वामी पूछते हैं—प्रभो ! आपने पृथ्वीकाय के जीवों के असंख्यात लाख आवास कहे हैं। उर्ध्वलोक में अधोलोकमें और तिरछे लोक में भी पृथ्वीकायिकों के आवास हैं, इसलिए उनकी संख्या असंख्यात है। तीनों लोकों में होने के कारण उनके आवासों की नियत संख्या का पता नहीं लगता, लेकिन प्रभो ! एक-एक आवास में बसने वाले पृथ्वीकायिकों के स्थिति-स्थान कितने ?

गौतम स्वामी के प्रश्न का भगवान ने उत्तर दिया—गौतम ! पृथ्वीकायिकों के एक-एक आवास में असंख्य-असंख्य स्थितिस्थान हैं। उनकी स्थिति अन्तमुहूर्त्त से लगाकर बाईस हजार वर्ष तक की है।

पृथ्वीकायिक का स्थान केवल शरीर-रूप ही नहीं है। भगवान ने इन जीवों का स्थिति स्थान किस प्रकार लिया है, यह बात आगम्य है, इसलिए कही नहीं जा सकती। एक-एक आवास में भी जघन्य, उत्कृष्ट और मध्यम स्थिति हैं।

फिर गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवन्! पृथ्वीकाय के जीव क्रोधी हैं, मानी हैं, मायी हैं या लोभी हैं? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान ने कहा—गौतम! उनमें क्रोध, मान, माया और लोभ, चारों ही बहुत हैं। यहाँ कोई भंग ही नहीं है। जहाँ किसी प्रकार का तारतम्य हो, वहीं भंग हो सकते हैं। यहाँ तारतम्य न होने के कारण भंग नहीं होते।

स्थितिस्थानों की तरह शेष नौ बातें भी कहनी चाहिए। ऊपर असुरकुमारों के संबंध में जो कहा है, वही पृथ्वीकायिकों के विषय में समझना।

जो बात बिन्दु में है, वही सिन्धु में भी है। सिंधु में जो खेल दिखलाई देता है, वही बिन्दु में भी दिखाई देता है। लोगों की स्थूल दृष्टि सिन्धु का खेल तो कदाचित् देख लेती है, लेकिन बिन्दु का खेल नहीं देख पाती। मगर सूक्ष्म दृष्टि से देखो तो मालूम होगा—जो खेल सिंधु में है, वही बिन्दु में भी है। अगर सिंधु के खेल बिन्दु में न हों तो बिन्दु बिन्दु से बने हुए सिंधु मे वे कहां से आएँ? उदाहरण के लिए—एक गेहूँ के दाने में उससे उत्पन्न होने वाला पौधा, पत्ती आदि दिखाई

नहीं देखी, परन्तु वैज्ञानिकों ने यह देख लिया है कि गेहूं के दाने के उगने पर उसकी जो स्थिति होती है, वह स्थिति उस दाने में मौजूद है। जो बात वृक्ष में है, वह उसके बीज में भी है। हाँ, स्थूल दृष्टि से न दिखाई देने के कारण ही यह नहीं कहा जा सकता कि वृक्ष की स्थिति बीज में है।

बहुत से लोग खनिज पदार्थों में जीव होना ही असंभव मानते थे उनकी स्थिति, संहनन, संस्थान आदि को मानना और समझना तो और भी कठिन माना जाता था। लेकिन ज्ञानी जन कहते हैं—अगर पृथ्वीकाय के जीवों में भी यह सब बातें न हों तो जीवपना ही नहीं रह सकता। भले ही हम लोग उनकी यह सब बातें न जान सकें, मगर भगवान तो जानते हैं।

भगवान फर्माते हैं—गौतम! पृथ्वी के जीवों की तरह जल के जीवों के संबंध में भी जानना चाहिए।

जैसे पृथ्वी में जीव हैं, उसी प्रकार जल में भी हैं। यहां यह कहा जा सकता है कि पृथ्वीकाय के जीव तो सिद्ध हुए नहीं और उनके समान जल में जीव बतला दिये, तो यह कैसे समझा जा सकता है? इसका उत्तर यह है कि पृथ्वीकाय में जीव हैं, यह बात चाहे स्पष्ट रूप से हमें प्रतीत न हो फिर भी विशिष्ट ज्ञानियों द्वारा यह जानी गई है। पृथ्वी में जीव होने की बात हमारे मस्तिष्क की उपज नहीं है, यह ज्ञानियों के साक्षात्कार का परिणाम है। ज्ञानियों ने पृथ्वी में जीव बतलाए

के साथ ही ऐसा उपाय बतलाया है जिससे हम इस विषय में विश्वास भी कर सकते हैं।

यह तो देखा ही जाता है कि खुदी हुई खदान फिर भर जाती है। साइंस द्वारा पत्थरों का बढ़ना भी सिद्ध हो चुका है। बढ़ना जीव की शक्ति का ही आवेश है। निर्जीव चीज बढ़ नहीं सकती। पत्थर किस प्रकार बढ़ता है, यह बात अपने आप से ही देखो। मनुष्य के हाथ–पैर बचपन में छोटे-छोटे होते हैं, फिर धीरे-धीरे बढ़ जाते हैं। क्या पैर बोलता, खाता या पीता है ?

'नहीं!'

पैर की हड्डी पत्थर जैसी होती है, फिर भी पैर बढ़ा तो क्या चैतन्य की शक्ति के बिना ही बढ़ा है ? अथवा चैतन्य शक्ति के कारण उसमें वृद्धि हुई है ? जैसे चैतन्य शक्ति के द्वारा पैर की हड्डी बढ़ती है, उसी प्रकार पत्थर भी बढ़ता है। अतएव यह मानना उचित ही होगा कि जैसे हड्डी में जीव है, उसी प्रकार पत्थर में भी जीव है। वैज्ञानिक सर जगदीशचन्द्र वसु ने भी यह बात सिद्ध की है कि जैसे बिजली मनुष्य के शरीर में है, वैसे ही बिजली पृथ्वी में भी है। इन्होंने यंत्रों की सहायता से पृथ्वी में भी जीव का अस्तित्व प्रमाणित किया है।

पृथ्वी की तरह पानी में भी जीव है। पानी में पड़े हुए कीड़े मकोड़े ही पानी के जीव नहीं हैं, किन्तु पानी ही जीव

…सिद्ध है। यह पूछा जा सकता है कि पानी में जीव होने का
…या प्रमाण है? मगर इससे पहले हमें यह भी सोचना चाहिए
…क हमारे शरीर में जीव है या नहीं, इस बात का क्या प्रमाण
…है? जब मनुष्य को क्लोरोफॉर्म सुंघा दिया जाता है, तब
…उसके शरीर में जीव रहता है या नहीं? मूर्छित-अवस्था में
…कभी श्वास भी बन्द हो जाता है। उस समय भी जीव होता
…है या नहीं? अगर होता है तो जीव होने न होने की पहचान
…क्या है? जीव है या नहीं, इसकी पहचान शरीर की गर्मी या
…ठंडक है। शरीर में जीव होने पर शरीर गर्म रहता है और
…जीव निकल जाने पर शरीर ठंडा हो जाता है। शरीर में जीव
…होने न होने की यही पहचान है। शरीर की उष्णता जीव का
…लक्षण है। पानी में भी ऐसे ही लक्षण वाले जीव हैं। अगर
…मनुष्य जाड़े के दिनों में, भूमि के भीतरी भाग में—भौंयरे में
…सोएगा तो उसका शरीर बाहर निकलने पर गर्म रहेगा और
…गर्मी के मौसम में ऐसे स्थान पर सोएगा तो शरीर ठंडा रहेगा।
…जाड़े के दिनों में मुंह से भाफ़ निकलती है। यह भी जीव का
…लक्षण है। यह लक्षण पानी के जीवों में भी मनुष्यों की ही तरह
…पाये जाते हैं। गहरे कुएं में, गर्मी के दिनों में पानी ठंडा रहता
…है और जाड़े के दिनों में गर्म रहता है। पानी में से भी भाफ़
…निकलती है। पानी में जीव हैं, यह बात समझाने के लिए
…शास्त्रों ने अनेक उदाहरण और हेतु बतलाए हैं। गर्मी-सर्दी
…आदि का जो प्रभाव आपके शरीर में मिलता है। वही पानी में

भी मिलता है। अतएव पानी में जीव है, इसमें संदेह नहीं रहता।

अगर पानी में जीव न होते तो ज्ञानियों को जीव बतलाने से क्या लाभ था! अगर कोई कहे कि अपने मज़हब की विशेषता बतलाने के लिए बतला दिये होंगे तो यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि पानी में जीव बतलाने या न बतलाने से मज़हब में कोई विशेषता नहीं आती। तो फिर पानी में जीव न होने पर भी जीव होना बतलाकर उन्होंने अपना कौन-सा स्वार्थ-साधन किया है? ईसाई लोग मनुष्य में आत्मा मानते हैं मगर गाय में नहीं मानते क्योंकि वे गाय का मांस-भक्षण करते हैं। जब उनसे इस विषय में प्रमाण माँगा जाता है तो कहते हैं कि ईश्वर ने पशुओं को प्राण दिया है, आत्मा नहीं दिया। पशु जो चेष्टा करते हैं वह प्राण की ही चेष्टा है। मतलब यह कि ईसाइयों को गाय खाना छोड़ना नहीं था, इसलिए उन्होंने गाय में आत्मा नहीं माना। परन्तु पानी में जीव का अस्तित्व बतलाने वाले ज्ञानियों का ऐसा कौन-सा स्वार्थ था, जिससे प्रेरित होकर वे पानी में जीव बतलाते? बल्कि जल में जीव बतलाने और मानने से कुछ कष्ट ही बढ़ा है, न बतलाने में अधिक स्वतंत्रता और सुविधा थी। स्वयं कष्ट उठा करके भी और असुविधाओं की चिन्ता न करके भी, केवल सत्य की खातिर जल में जीवों का अस्तित्व मानना यह उनकी महान निस्पृहता, सत्यपरायणता और आप्तता है।

जल में जीव मान कर कुछ लोगों ने साधुओं की जिम्मेवरी श्रावकों पर डाल दी है। यह नितान्त अनुचित है। शास्त्रों में श्रावक को जल का दुरुपयोग न करने का उपदेश दिया गया है। यही बात अन्य शास्त्रों में भी है कि जल वृथा नहीं बिगाड़ना चाहिए, विना छाना जल काम में नहीं लाना चाहिए और जलाशय में घुसकर भैंस की तरह क्रिड़ा नहीं करनी चाहिए। जल जगत् का रक्षक पदार्थ है। संस्कृत भाषा में इसे 'जीवन' कहते हैं। गुलाब के इत्र के विना संसार का काम बखूबी चल सकता है परन्तु जल के विना नहीं चल सकता। संसार में अनेक मनुष्य ऐसे होंगे जो गुलाब के इत्र को जानते ही न होंगे, परन्तु क्या कोई मनुष्य ऐसा भी मिल सकता है जिसने कभी पानी न पिया हो? जेवमें गुलाब के इत्र की शीशी पड़ी हो परन्तु जब प्यास के मारे गला सूख गया हो और मुँह से बोल न निकलता हो, तब वह इत्र काम दे सकेगा? उस समय एक लोटा जल के बदले अगर कोई इत्र की शीशी माँगे तो कौन खुशी-खुशी नहीं दे देगा? सारांश यह है कि जल दुनियाँ के लिए अत्यावश्यक पदार्थ है। उसका दुरुपयोग करना उचित नहीं है। किन्तु जल छानने आदि की यतना रखनी चाहिए। जल के जीवों की रक्षा करने से आपके आत्मा की और शरीर की भी रक्षा होगी। बिना छाना पानी पीने से कभी-कभी प्राण जाने की संभावना रहती है।

बहुत से लोग मुँहपत्ती बाँधने में भी शर्माते हैं। उन्हें यह नहीं मालूम कि धर्म-पालन में शर्म की क्या बात है? धर्म की दृष्टि से न सही, स्वास्थ्य की दृष्टि से ही विचार करें तो मुँहपत्ती की उपयोगिता का पता चल सकता है। सामाजिक सभ्यता के लिहाज़ से भी मुँह के सामने कपड़ा रखना आवश्यक समझा जाता है। कहा जा सकता है क्या मुँहपत्ती बिना समाज का आदमी नहीं समझा जा सकता। इसका उत्तर यह है कि क्या पगड़ी बाँधे बिना मनुष्य नहीं कहला सकता? पगड़ी बाँधे बिना भी मनुष्य, मनुष्य कहलाता है फिर भी सभ्यता के लिए पगड़ी बाँधी जाती है। इसी प्रकार धार्मिक सभ्यता की भी रक्षा करनी चाहिए।

पानी छानने का छन्ना भी धर्मोपकरण में है। बैठका, मुँहपत्ति आदि निवृत्तिमार्ग के धर्मोपकरण हैं और छन्ना प्रवृत्तिमार्ग का धर्मोपकरण है। प्रवृत्तिमार्ग भी धर्म के अन्तर्गत है। प्रवृत्तिमार्ग जीव के लिए स्वाभाविक है और उसमें भी धर्म हो सकता है। कहा भी है—

वस्त्रपूतं पिबेज्जलम्।

अर्थात्—वस्त्र से छानकर जल पीना चाहिए।

मतलब यह है कि जल में जीव होने की बात भगवान् के परिपूर्ण ज्ञान को पुष्ट करने के साथ दया को भी पुष्ट करती है।

यहाँ यह कहा जा सकता है कि जब हम जल में जीव नहीं जानते थे या नहीं जानते थे तब की बात दूसरी है, लेकिन जीवों को जान-बूझकर जल पियेंगे तो बड़ा पाप होगा। मगर यह विचार ठीक नहीं। यह तो ईसाइयों की सी बात हुई कि गाय में आत्मा नहीं है, यह जानकर हम गाय खाते हैं। गाय में आत्मा मानकर नहीं खाते। जैनधर्म ऐसा झूठा आश्वासन नहीं देता कि हम जल पीते हैं, इसलिए जल में जीव ही न मानें। जल में जीव है, फिर भी जल पीना नहीं छोड़ा जा सकता। यह बात दूसरी है, लेकिन जल का उपकार तो मानना ही चाहिए। कर्ज लेना अच्छा नहीं है, फिर भी आवश्यकता होने पर कर्ज लेना ही पड़ता है परन्तु कर्ज को कर्ज तो मानना ही चाहिए। जिस प्रकार किसी सेठ की एक दुकान से लिया हुआ कर्ज उसकी दूसरी दुकान पर जमा कराने से चुक जाता है, उसी प्रकार जल का कर्ज दूसरे जीवों को चुकाया जा सकता है। जल पीने में सूक्ष्म हिंसा है, स्थूल हिंसा नहीं है। जल में जीव मानकर जल पीने से पाप लगेगा, इसलिए जल में जीव ही न मानना घोर अज्ञान है। इसमें हिंसा का पाप तो टलता नहीं और मिथ्यात्व का पाप अधिक लगता है, क्योंकि सजीव को निर्जीव मानना मिथ्यात्व है। जगदीशचन्द्र बसु ने वनस्पति में भी जीव सिद्ध किये हैं, तो क्या वनस्पति खाने वाले यह कहेंगे कि हम वनस्पति में जीव न मान कर वनस्पति खाते थे, सो पाप से बचे हुए थे। अब जगदीशचन्द्र

वस्तु ने जीव बतलाकर ऐसी मूर्खता की कि हमें पाप लगने लगा। कोई भी समझदार आदमी ऐसा नहीं कहेगा। वह कहेगा—वनस्पति खाये बिना मेरा काम नहीं चलता इसलिए खाता हूं, मगर इसका बदला दूसरी तरह से चुका दूंगा।



द्वीन्द्रियादि जीव

मूलपाठ—

वेइंदिय–तेइंदिय–चउरिंदियाणं जेहिं ठाणेहिं नेरइयाणं असीइभंगा तेहिं ठाणेहिं असीइं चेव। नवरं–अब्भहिया सम्मत्ते, आभिणिबोहियनाणे, सुयनाणे य एएहिं असीइभंगा। जेहिं ठाणेहिं नेरइयाणं सत्तावीसा भंगा तेसु ठाणेसु सव्वेसु अभंगयं।

पंचिंदिय तिरिक्ख जोणिया जहा नेरइया तहा भणियव्वा। नवरं–जेहिं सत्तावीसं भंगा तेहिं अभंगयं कायव्वं। जत्थ असीति तत्थ असीतिं चेव।

संस्कृत-छाया—

द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रियाणां यैः स्थानै नैरयिकाणाम्

...ः स्थानैरशीतिश्चैव। नवरम्-अभ्यधिकाः सम्यक्त्वे,

आभिनिबोधिकज्ञाने, श्रुतज्ञाने च एतैरशीतिर्भङ्गाः। यैः स्थानैर्नैरयिकाणां सप्तविंशतिर्भङ्गास्तेषु स्थानेषु सर्वेषु अभङ्गकम्।

पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिका यथा नैरयिकास्तथा भणितव्याः, नवरम् यः सप्तविंशतिर्भङ्गाः, नैरभङ्गकं कर्त्तव्यम्। यत्राशीतिस्तत्राशीतिश्चैव।

शब्दार्थ—

जिन स्थानों में नारक जीवों के अस्सी भंग कहे हैं, उन स्थानों से द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चौ-इन्द्रिय जीवों के भी अस्सी भंग होते हैं। विशेष यह है कि-सम्यक्त्व, आभिनिबोधिकज्ञान और श्रुतज्ञान-इन तीन स्थानों में भी द्वीन्द्रिय आदि जीवों के अस्सी भंग होते हैं यह बात नारकी जीवों से अधिक है। तथा जिन स्थानों में नारकी जीवों के सत्ताईस भंग कहे हैं, उन सभी स्थानों में यहाँ अभंगक है—अर्थात् कोई भंग नहीं होते।

जैसा नैरयिकों के विषय में कहा, वैसा ही पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनिवाले जीवों के विषय में समझना चाहिए। विशेषता यह है कि-जिन स्थानों में नारकी जीवों के

सत्ताईस भंग कहे हैं, उन स्थानों में यहाँ अभंगक कहना-अर्थात् उन स्थानों में यहाँ भंग नहीं होते। और जहाँ नारकों में अस्सी भंग कहे हैं, वहाँ पंचेन्द्रिय तिर्यंकों में भी अस्सी भंग ही कहना चाहिए।

विशेषार्थ*

पहले नारकी जीवों के प्रकरण में संख्यात समय अधिक तक जघन्य स्थिति में, जघन्य अवगाहना में, संख्यात प्रदेश अधिक तक जघन्य अवगाहना में और मिथ्यादृष्टि की स्थिति में अस्सी भंग कहे हैं। यहाँ विकलेन्द्रिय अर्थात् दो-इन्द्रिय, तीन-इन्द्रिय और चौ-इन्द्रिय जीवों के संबंध में भी इन स्थानों में अस्सी भंग ही समझने चाहिए। मगर मिथ्यादृष्टि वालों के अस्सी भंग नहीं समझना। यहाँ अस्सी भंग बतलाने का कारण यह है कि विकलेन्द्रिय जीव अल्प होते हैं, अतएव उनमें एक-एक जीव भी कदाचित् क्रोधादि-उपयुक्त हो सकता है। मिथ्यादृष्टि वालों के अस्सी भंगों के निषेध करने का कारण यह है

* पूज्य श्री का ता० २-४-४४ का एक व्याख्यान उपलब्ध नहीं है जिससे इस पाठ का और इस उद्देशक के अन्त तक के पाठों पर व्याख्यान किया गया था। इसलिए केवल विशेषार्थ ही [है]।

—सम्पादक

कि विकलेन्द्रियों में मिश्रदृष्टि होती ही नहीं है। अतएव मिश्रदृष्टि वालों का यहाँ प्रश्न ही नहीं उठता।

दृष्टि द्वार और ज्ञानद्वार में नारकी जीवों के सत्ताईस भंग कहे हैं, मगर यहाँ अधिक अर्थात् अस्सी भंग समझने चाहिए क्योंकि बहुत थोड़े विकलेन्द्रियों को सास्वादन सम्यक्त्व होता है और थोड़े होने के कारण एकत्व संभव। इस प्रकार एकत्व होने के कारण अस्सी भंग कहे गये हैं। यही बात आभिनिबोधिक ज्ञान (मतिज्ञान) और श्रुतज्ञान के लिए भी समझनी चाहिए। इनमें भी अस्सीभंग कहना चाहिए।

जिन-जिन स्थानों में नारकी जीवों के संबंध में सत्ताईस भंग बतलाये गये हैं, उन-उन स्थानों में विकलेन्द्रियों के संबध अभंगक अर्थात् भंगों का अभाव कहना चाहिए। अभंगक कहने का कारण यह है कि विकलेन्द्रिय जीवों में क्रोधादि-उपयुक्त जीव एक साथ बहुत पाये जाते हैं।

तिर्यञ्च पंचेन्द्रियों के विषय में नारकी जीवों के समान प्ररूपणा समझनी चाहिए। मगर विशेषता यह है कि जिन स्थानों में नारकों में सत्ताईस भंग कहे हैं, इन स्थानों यहाँ अभंगक कहना चाहिए, क्योंकि क्रोधादि-उपयुक्त पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च एक ही साथ बहुत पाये जाते हैं। नारकी जीवों में जहाँ अस्सी भंग कहे गये हैं, वहाँ अस्सी भंग ही इन जीवों के संबंध में भी समझने चाहिए।

०

मनुष्य

मणुम्ना ... यावां असीन

भंगा नेह ... असीतिभंग

मारियचत्वा।

नवरं ... पुगा

य अस

म-न्दा

थानंतन्या

समाधिर्याचन्त

मिथत्या.

वाण व्यन्तर

मूलपाठ—

वाणमंतर-जोतिस-वेमाणिया जहा भवणवासी। णवरं-णाणत्तं जाणियव्वं जं जस्स, जाव अणुत्तरा।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति जाव विहरइ।

संस्कृत-छाया—

वानव्यन्तर-ज्योतिष्क-वैमानिका यथा भवनवासिनः। नवरं-नानात्वं ज्ञातव्यं, यद् यस्य, यावद्-अनुत्तराः।

तदेवं भगवन् ! तदेवं भगवन् ! इति यावत्-विहरति।

शब्दार्थ—

वाणव्यंतर, ज्योतिषी और वैमानिक देव, भवनवासियों के समान जानने चाहिए। विशेषता यह है कि जिसकी

जो भिन्नता है वह जाननी चाहिए। यावत् अनुन्तर-विमान तक जानना।

हे भगवन्! यह इसी प्रकार है। हे भगवन्! यह इसी प्रकार है। ऐसा कहकर यावत् गौतम स्वामी विचरते हैं।

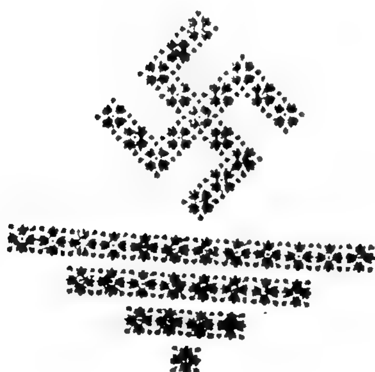
विशेषार्थ

पहले भवन वासियों का दस द्वारों में वर्णन किया गया गया है। उसी वर्णन के अनुसार वाण–व्यंतर, ज्योतिषी और वैमानिकों का वर्णन समझना चाहिए। भवन वासियों के जहाँ अस्सी भंग कहे हैं वहाँ अस्सी भंग और जहाँ सत्ताईस भंग कहे हैं वहाँ सत्ताईस भंग वाणव्यंतर आदि के भी समझ लेना चाहिए।

भवनवासी और व्यंतर देवों का वर्णन एक समान है। किन्तु ज्योतिषी और वैमानिकों के वर्णन में कुछ अन्तर है। यह बात प्रकट करने के लिए ही कहा गया है कि जिसमें जहाँ जो विशेषता हो वह जान लेनी चाहिए जैसे लेश्या द्वार में ज्योतिषी देवों में सिर्फ एक तेजोलेश्या ही पाई जाती है। ज्ञान द्वार में तीनों ज्ञान और तीनों अज्ञान पाये जाते। असंज्ञी ज्योतिषी दोनों में उत्पन्न नहीं होते अतएव विभंगज्ञान पर्याप्त अवस्था में भी होता है।

वैमानिक देवों में भी लेश्याद्वार में भवनवासियों से कु
भिन्नता है। वैमानिकों में तेजोलेश्या आदि तीन शुभ लेश्या
ही पाई जाती है। इसी प्रकार ज्ञानद्वार में तीन ज्ञान और
तीन अज्ञान यहाँ कहने चाहिए।

'सेवं भंते, सेवं भंते' पदों का विवेचन पहले के समान ही
समझना चाहिए।



भावार्थ—

नारकी जीवों में जिन-जिन स्थानों में अस्सी भंग कहे हैं, उन-उन स्थानों में मनुष्यों में भी अस्सी भंग कहने चाहिए। और नारकियों में जिन स्थानों में सत्ताईस भंग कहे हैं, उन स्थानों में, मनुष्यों में अभंगक कहना चाहिए। विशेषता यह है कि मनुष्यों में जघन्य स्थिति में और आहारक शरीर में अस्सी भंग कहने चाहिए।

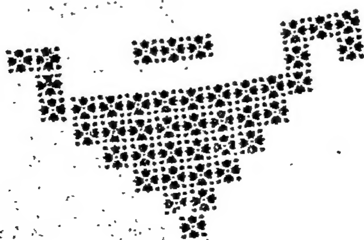
विशेषार्थ

पहले नारकी जीवों का दस द्वारों से विवेचन किया जा चुका है। उन द्वारों से जिन द्वारों में नारकियों के अस्सी भंग कहे हैं, उन द्वारों में मनुष्य के संबंध में भी अस्सी भंग ही समझने चाहिए। एक समय अधिक जघन्य स्थिति से लेकर असंख्यात समय अधिक तक की जघन्य स्थिति में जघन्य अवगाहना में तथा एक दो प्रदेश अधिक जघन्य अवगाहना से लेकर असंख्यात प्रदेश अधिक तक की जघन्य अवगाहना में और मिश्रदृष्टि में नारकी जीवों के विषय में अस्सी भंग कहे हैं। इन द्वारों में मनुष्य-संबंधी भंग भी अस्सी ही समझने चाहिए, क्यों कि ऐसे मनुष्य कम होते हैं।

मगर इस कथन का आशय यह न समझ लिया जाय कि नारकी और मनुष्य की सम्पूर्ण प्ररूपणा एक समान ही है।

दोनों की प्ररूपणा में अन्तर भी है। यह अन्तर यह है कि जिन स्थानों में नारकियों के सत्ताईस भंग बतलाये हैं, यहाँ मनुष्य में अभंगक समझना चाहिए। इसका कारण यह है कि नारकी जीवों में अधिकांशतः क्रोध का ही उदय होता है, इस कारण नारकियों में सत्ताईस भंग कहे गये हैं, किन्तु मनुष्य क्रोधादि सभी कषायों में उपयुक्त बहुत पाये जाते हैं और उनके कषायोदय में कोई खास विशेषता नहीं है। इसलिए मनुष्य के संबंध में भंगों का अभाव बतलाया गया है।

मनुष्य की प्ररूपणा में इतनी बात नारकियों से अधिक समझनी चाहिए—जघन्य स्थिति में मनुष्यों के अस्सी भंग होते हैं, जबकि नारकियों के सत्ताईस ही होते हैं। और आहारक शरीर में मनुष्यों के अस्सी भंग समझने चाहिए। आहारक शरीर वाले मनुष्य कम ही होते हैं अतएव उनके अस्सी भंग कहे हैं। नारकियों में आहारक शरीर होता ही नहीं है।



वाण व्यन्तर

मूलपाठ—

वाणमंतर-जोतिस-वेमाणिया जहा भवणवासी णवरं-णाणत्तं जाणियव्वं जं जस्स, जाव अणुत्तरा।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति जाव विहरइ।

संस्कृत-छाया—

वानव्यन्तर-ज्योतिष्क-वैमानिका यथा भवनवासिनः। नवरं-नानात्वं ज्ञातव्यं, यद् यस्य, यावद्-अनुत्तराः।

तदेवं भगवन् ! तदेवं भगवन् ! इति यावत्-विहरति।

शब्दार्थ—

वाणव्यंतर, ज्योतिषी और वैमानिक देव, भवनवासियों के समान जानने चाहिए। विशेषता यह है कि जिसकी

जो भिन्नता है वह जाननी चाहिए। यावत् अनुन्तर-विमान तक जानना।

हे भगवन्! यह इसी प्रकार है। हे भगवन्! यह इसी प्रकार है। ऐसा कहकर यावत् गौतम स्वामी विचरते हैं।

विशेषार्थ

पहले भवन वासियों का दस द्वारों में वर्णन किया गया गया है। उसी वर्णन के अनुसार वाण-व्यंतर, ज्योतिषी और वैमानिकों का वर्णन समझना चाहिए। भवन वासियों के जहाँ अस्सी भंग कहे हैं वहाँ अस्सी भंग और जहाँ सत्ताईस भंग कहे हैं वहाँ सत्ताईस भंग वाणव्यंतर आदि के भी समझ लेना चाहिए।

भवनवासी और व्यंतर देवों का वर्णन एक समान है। किन्तु ज्योतिषी और वैमानिकों के वर्णन में कुछ अन्तर है। यह बात प्रकट करने के लिए ही कहा गया है कि जिसमें जहाँ जो विशेषता हो वह जान लेनी चाहिए जैसे लेश्या द्वार में ज्योतिषी वेदों में सिर्फ एक तेजोलेश्या ही पाई जाती है। ज्ञान द्वार में तीनों ज्ञान और तीनों अज्ञान पाये जाते। असंज्ञी ज्योतिषी दोनों में उत्पन्न नहीं होते अतएव विभंगज्ञान पर्याप्त अवस्था में भी होता है।